श्री ७

श्रीबालमुकुन्द-ग्रन्थमाला–७



न्यासतिलक

रचिता—

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र कवितार्किकसिंह वेदान्ताचार्य

श्रीवेङ्कटनाथ देशिक (श्रीवेदान्त देशिक)



हिन्दी व्याख्याकार

श्रीभाष्यसिंहासनाधिपति

स्वामी श्री नीलमेघाचार्य जी काशी



ण्ठवासी सेठ मगनीराम जी बांगड की

पुण्यस्मृति में

प्रकाशित { सन् १९६०

प्रथम सस्करण

सवत् २०१७

सम्पादक, मुद्रक, प्रकाशक

राघवाचाय

प्रकाशक मुद्रक

आचायपीठ आचायप्रेस

बरेली (उत्तरप्रदेश)

निवेदन

आचार्यसार्वभौम श्रीवेदान्तदेशिक के स्तोत्रो में 'न्यासतिलक' ऐसा स्तोत्र है जिसमे स्तोत्र की शैली से शरणागति का तत्त्व प्रदर्शित किया गया है।

स्तोत्र मे कुल मिलाकर बत्तीस श्लोक है। शरणागतिशास्त्र की त्रिपुटी—शरणागत, शरणागति और शरण्य—का प्रामाणिक अनुभव इन श्लोको के द्वारा प्राप्त होता है। शरणागति करने के पश्चात् शरणागत की जीवनचर्या कैसी होनी चाहिये, इसका वर्णन इस स्तोत्र में आत्मोपदेश के ढग से किया गया है।

श्रीभाष्यसिंहासनाधिपति स्वामी श्री नीलमेघाचार्य जी महाराज ने इस ग्रन्थ की विशद हिन्दी व्याख्या की है।

वैकुण्ठवासी सेठ श्री मगनीराम जी बांगड की पुण्यस्मृति मे उनके आचार्य अनन्त श्रीसमलकृत जगद्गुरु रामानुजाचार्य श्री उत्तराहोविलझालरियामठाधीश्वर स्वामी श्री बालमुकुन्दाचार्य महाराज के नाम से अलकृत श्री बालमुकुन्दग्रन्थमाला का आरम्भ किया गया है। इस ग्रन्थमाला के छ पुष्प प्रकाशित हो चुके हैं। सातवें पुष्प के रूप में उपर्युक्त हिन्दी व्याख्या समेत न्यासतिलक स्तोत्र प्रकाशित हो रहा है। शरणागतिमार्ग के अनुरागी इसे अपनाकर अनुगृहीत करेंगे, ऐसा विश्वास है।

—सम्पादक

❀ विषय-सूची



श्रीमते लक्ष्मीहयवदनपरब्रह्मणे नमः

श्रीमते रामानुजाय नम

श्रीमते निगमान्तमहादेशिकाय नम

श्रीमन्निगमान्तमहादेशिकैरनुगृहीतं

न्यासतिलकम्

श्रीमान् वेङ्कटनाथार्यं कवितार्किककेसरी ।
वेदान्ताचार्यवर्यो मे सन्निधत्ता सदा हृदि ॥

(१)

गुरुभ्यस्तद्गुरुभ्यश्च नमोवाकमधीमहे ।
वृणीमहे च तत्राद्यौ दम्पती जगतां पती ॥

सर्व कल्याणगुणपरिपूर्ण अवाप्तसमस्तकाम श्री वैदिकसप्रदाय-परमाचार्य श्रिय पति श्रीमन्नारायण भगवान् ने इस कलियुग के आरम्भ से लेकर श्रीशठकोपसूरि श्रीमन्नाथमुनि स्वामी जी श्रीमद्या-मुनाचार्य स्वामी जी और श्रीमद्रामानुज स्वामी जी इत्यादि आचार्यों की परम्परा को इस भूतल मे अवतार देकर कलिमलग्रस्त जगत् को उज्जीवित किया है। उन आचार्यों के द्वारा जिन परमवैदिक सदर्थों का उपदेश हुआ है, उन अर्थो को अत्यन्त उज्ज्वल रूप मे प्रकाशित करने के लिये श्री वेङ्कटेश भगवान् ने अपनी दिव्यघण्टा का श्रीवेदान्त-देशिक स्वामी जी के रूप में अवतार कराया है। श्री देशिक स्वामी जी ५ वर्ष की अवस्था मे ही आचार्य तथा आचार्य के विशेष कटाक्ष के पात्र बनकर २० वर्षों के अन्दर वेद इत्यादि सर्व विद्याओ का अध्ययन कर श्रीहयग्रीव भगवान के कृपाकटाक्ष के पात्र बन गये थे तथा श्रीरङ्गनाथ भगवान् के आदेश से "वेदान्ताचार्य" विरुद श्रीरङ्ग-नायिका महालक्ष्मी जी के अनुग्रह से "सर्वतन्त्रस्वतन्त्र" विरुद और

विद्वत्ता से प्रसन्न विद्वन्मण्डली के अनुरोध से कवितार्किकसिंह बिरुद को प्राप्तकर आपने श्रीविशिष्टाद्वैतसिद्धान्त की सुदृढ स्थापना की थी आपने अपने जीवन में ३० बार श्रीभाष्य का प्रवचन किया जिसका महत्त्व श्रीरामानुज स्वामी जी ने प्रथम कङ्कय कह कर बढाया है। आपने श्रीरङ्ग में विराजमान रहते समय वहाँ के श्रीवैष्णवाचार्यों के द्वारा शरणागति के मर्म को प्रकाशित करने के लिये प्रार्थना किये जाने पर लोककल्याणार्थ शास्त्रीयदृष्टि से न्यासविंशति ग्रन्थ का निर्माणकर स्तोत्र की शैली से शरणागति मर्मप्रकाशक न्यासतिलक ग्रन्थ का निर्माण किया है। उसका प्रथम श्लोक 'गुरुभ्यस्तद्गुरुभ्यः' इत्यादि है।

शरणागति मन्त्ररत्न (द्वयमन्त्र) का प्रधान प्रतिपाद्य अर्थ है। मन्त्रार्थ का अनुसन्धान करने के पूर्व गुरुपरम्परा का अवश्य अनुसन्धान करना चाहिये। यह शास्त्रविधि है। इस बात को ध्यान में रखकर श्रीदेशिक स्वामी जी प्रथम श्लोक से गुरुपरम्परा को नमस्कार करते हैं।

गुरुभ्यस्तद्गुरुभ्यश्च नमोवाकमधीमहे हम लोग गुरुओं के प्रति तथा उनके गुरुओं के प्रति भी नमः शब्द का प्रयोग करते हैं अर्थात् नमस्कार करते हैं। मैं अकेला नमस्कार करता हूँ सो बात नहीं किन्तु हम लोग नमस्कार करते हैं मैं मेरे शिष्यगण सब्रह्मचारी और शिष्ट श्रीवैष्णव सब मिलकर नमस्कार करते हैं सब से मिलकर गुरुपरम्परा की वन्दना करने पर एक विलक्षण आनन्द प्रस्फुटित होता है। आचार्यों को गुरु इसलिये कहा जाता है कि वे अज्ञानान्धकार को दूर करते हैं। उनमें सर्वप्रथम हम अपने आचार्य को नमस्कार करते हैं। यद्यपि अपने आचार्य एक हैं तथापि बहुवचन कहकर उनकी पूजा को व्यक्त करते हैं आचार्य ने हमारे अज्ञानान्धकार को दूर किया हम उनके प्रति ऋणी हैं। हम आचार्य को प्रणाम कर उनके आचार्यों को भी प्रणाम करते हैं। शास्त्र में आज्ञा ऐसी ही है—

स चाचार्यवंशो ज्ञेय आचार्याणामसावसावित्याभगवत्तः।

यह शास्त्र की आज्ञा है। अर्थात् आचार्यों में अमुक अमुक करके प्रत्येक आचार्य

का नाम लेकर श्रीभगवान् तक गुरुपरम्परा का अनुसन्धान करना चाहिये। इस शास्त्राज्ञा के अनुसार हम सर्व प्रथम अपने आचार्य का अनुसन्धान कर बाद उनके आचार्यों का अनुसन्धान करते है। **तद्गुरुभ्यः** ऐसा बहुवचन प्रयोग कर सभी पूर्वाचार्यो को नमस्कार करते है, एक भी पूर्वाचार्य को छोडने की इच्छा नही है, सब पूर्वाचार्यों को प्रणाम करते हैं। हम आचार्यो के प्रति नम शब्द का प्रयोग करते है। नम शब्द के जितने अर्थ है सभी हमे अभीष्ट हैं, मन से नम्र होना, वाणी से नम शब्द का प्रयोग करना शरीर से साष्टाग दण्डवत् प्रणाम करना तथा आत्मनिवेदन करना ये सब नम शब्द के अर्थ हैं, नम शब्द के इन सभी अर्थों को हम आचार्यो के प्रति करते हैं। आचार्यो के विषय मे प्रतिक्षण बढने वाली भक्ति हम से यह सब कराती है तथा बढती रहती है। आचार्यो के प्रति नम शब्द का यह प्रयोग वेदाध्ययन के समान है। यह गुरुपरम्मरा भजन वेदाध्ययन के समान श्रुति और स्मृति से विहित होने से परमकर्तव्य है। वेदाध्ययन की तरह यह गुरु भजन भी श्रीपराशर मैत्रेय आश्वलायन और मधुरकवि इत्यादि शिष्टपुरुषो द्वारा अनुष्ठित है। वेदाध्ययन के समान यह गुरुभजन भी धर्मानुष्ठान के काम मे आने वाले तथा तत्त्व और हित आदि के विषय मे होनेवाले तत्त्वज्ञान का मूलकारण है। जिस प्रकार वेदाध्ययन न करने पर प्रत्यवाय लगता है उसी प्रकार गुरुभजन न करने पर भी प्रत्यवाय लगता है। जिस प्रकार वेदाध्ययन भोग और मोक्ष देने वाले सभी मन्त्रो की सिद्धि के लिये प्रधान कारण है, उसी प्रकार यह गुरु भजन भी सर्व मन्त्रसिद्धि के लिये प्रधान कारण है, मूल कारण है। जैसे वेदाध्ययन के समान शास्त्रोक्त इस गुरुभजन के लिए हम नम शब्द का प्रयोग करते है। वैसे ही कल्याणकामी प्रत्येक सज्जन को करना चाहिये।

तत्राद्यो जगता पती दम्पती वृणीमहे च। उस गुरु परम्परा मे प्रथम गुरु दिव्यदम्पति है, अर्थात् श्रीमहालक्ष्मी जी तथा श्रीमन्नारायण भगवान् हैं। ये दोनो अन्यान्य गुरुओ के समान नही है किंतु

उन सब के भी उपास्य इष्टदेव हैं। इनको हम इस प्रकार वरण करते है कि ये हम को प्राप्य तथा प्रापक हों ये हमे मोक्ष द तथा मोक्ष में अनुभाव्य भी हो यह हमारी प्रार्थना है। ये अन्या य गुरुओ के समान केवल अज्ञानमात्र को हटाने वाले नही किंतु मोक्ष देने वाले है तथा मोक्ष मे प्राप्य भी है। ऐसा क्यो ? ये दोनो जगत् के पति है परब्रह्म हैं परब्रह्म होने के कारण ये दोनो मोक्ष देने वाले है तथा मोक्ष मे प्राप्य भी हैं। ये दोनो दम्पति है श्रीमहालक्ष्मी जी पत्नी है श्रीमन्नारायण भगवान् पति है। ये दोनों ईश्वर हैं हम लोगों के प्रति स्वामी है ईश्वर कोटि मे निविष्ट होने पर भी इनमें मतभेद नही होता। क्योंकि दोनों दम्पति के रूप मे अर्थात् पति-पत्नी के रूप मे प्रेमसूत्र मे बधे है। जब मुक्त और ईश्वर मे तथा नित्य सूरि और ईश्वर मे मतभेद नही होता है तब अटूट प्रेमसूत्र मे बँधे हुये इन दिव्य दम्पतियों मे मतभेद की सम्भावना क्यो हो ? इनमे श्रीमहालक्ष्मी जी श्रीभगवान् को छोडकर और सबके लिये स्वामिनी है श्रीभगवान् महालक्ष्मी जी तथा अन्यान्य सबके प्रति स्वामी हैं। इस प्रकार परस्पर प्रेमसूत्र मे बधे हुये तथा जगत् के स्वामी उन दिव्यदम्पतियों का वरण करते है जो गुरुपरम्परा मे प्रथम गुरु माने जाते है। ये दोनो दिव्यदम्पति हम लोगो के लिये प्राप्य बनें तथा प्रापक बने यही प्रार्थना है ॥१॥

(२)

प्राय प्रपदने पु सा पौन पुन्य निवारयन् ।
हस्त श्रीरङ्गभर्तुर्माभव्यादभयमुद्रित ॥

शरणागति म त्र की प्रधानप्रतिपाद्य न्यासविद्या के विषय मे ग्रन्थनिर्माण के लिये श्रीदेशिक स्वामी जी ने पूर्व श्लोक मे मगला चरण के रूप मे गुरुपरम्परा की वन्दना की। इस श्लोक में श्रीरङ्गनाथ भगवान् के श्रीहस्त के वर्णन के व्याज से एक शका के समाधान को सूचित करते है। शङ्का यह है कि न्यासविद्या अर्थात् शरणागति भी एक ब्रह्मविद्या है। ब्रह्मसूत्रकार श्रीवेदव्यास जी ने

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् इस ब्रह्मसूत्र का निर्माण कर यह बतलाया है कि ब्रह्मविद्या का बारम्बार आवर्तन करना चाहिये। बारम्बार आवृत्ति करने पर ही ब्रह्मविद्या फल दे सकती है। '**आप्रयाणात्तत्रापि हि दृष्टम्**" इस सूत्र से श्रीव्यास जी ने यह सिद्ध किया है कि मरणपर्यन्त यहाँ तक कि अन्तिम स्मरणपर्यन्त ब्रह्मविद्या की आवृत्ति करनी चाहिये। श्रीव्यास जी के उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार यह मानना आवश्यक हो जाता है कि जिस प्रकार अन्यान्य ब्रह्मविद्याओं की आवृत्ति करनी चाहिये उसी प्रकार न्यासविद्या अर्थात् शरणागति की भी आवृत्ति अपेक्षित है यदि एक बार ही शरणागति की जाय तो वह फलप्रद नहीं होगी। यह शंका है। इस शङ्का का समाधान इस श्लोक में निहित है।

पुंसां प्रपदने पौनःपुन्यं प्रायो निवारयन् श्रीरङ्गभर्तुरभयमुद्रितो हस्तो मामव्यात् शंका का समाधान यह है कि भले ही अन्यान्य ब्रह्मविद्याओं में आवृत्ति अपेक्षित हो शरणागति में आवृत्ति की अपेक्षा नहीं है। एक बार की गई शरणागति अवश्य फल देगी। **सकृत् कृतः शास्त्रार्थः** ऐसा सामान्य न्यास है जिसका भाव यह है कि एक बार किया गया साधन फल देता है, एक बार करने में ही शास्त्राज्ञा का पालन हो जाता है। यह सामान्य न्याय सभी शास्त्रीय साधनों में समन्वित होता है। इस सामान्य न्याय का उन साधनों में ही सचार नहीं होता है जिन साधनों को बारम्बार करने के लिये विधान है। अन्यान्य ब्रह्मविद्यायें तैल की धारा के समान विच्छिन्न न होने वाली स्मृतियों का सन्तानरूप है। अतएव उनकी आवृत्ति करनी पड़ती है तभी स्मृतियों का सन्तान बन सकता है। मरणपर्यन्त ब्रह्मोपासन करने का विधान उपनिषदों में मिलता है। उपनिषद् बतलाती है कि **स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते**। अर्थात् इस प्रकार मरणपर्यन्त ब्रह्मोपासन करने वाला साधक ब्रह्मलोक पहुँचता है, वहाँ से इस संसार में लौट कर नहीं आता। इस प्रकार विशेष विधान के कारण अन्यान्य ब्रह्मविद्याओं में "**सकृत् कृतः शास्त्रार्थः**" यह न्याय प्रवृत्त

नही होता। शरणागति मे उस प्रकार आवृत्ति करने का विधान नही है। इस लिये इसमे सकृत् कृत शास्त्रार्थ इस न्याय का लागू होना स्वाभाविक है। किंच स्पष्ट विधान से भी सिद्ध होता है कि शरणागति एक बार ही करना चाहिये। सकृदेव हि शास्त्रार्थ कृतोऽयं तारयेन्नरम् ऐसा विधान है। अर्थात् यह शरणागतिरूप शास्त्रार्थ एक ही बार किये जाने पर साधक को ससार के पार पहुँचा देता है। श्रीवाल्मीकि रामायण के युद्धकाण्डस्थ विभीषण शरणागति के प्रसग मे भगवान् श्रीरामचन्द्र जी स्पष्ट आदेश देते है कि—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभय सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रत मम॥

अर्थात्—जो एक बार ही शरण मे आया हो तथा मैं आपका होकर रहूँ ऐसा मांगता हो उसको मै सब प्राणियो से अभय देता हूँ, यह मेरा व्रत है। इन वचनो से स्पष्ट सिद्ध होता है कि शरणागति मे आवृत्ति की आवश्यकता नही है। एक बार ही शरणागति करना चाहिये।

इस शास्त्रार्थ को श्रीरगनाथ भगवान् का दक्षिणहस्त स्पष्ट सूचित करता है। दक्षिणहस्त अभयमुद्रा से अलकृत है। अभयमुद्रा से प्रतीत होता है कि श्रीरङ्गनाथ भगवान् शरणागतो को अभय दे रहे है साथ मे अभयमुद्रा से श्रीभगवान् यह भी व्यक्त करते है कि शरण मे आने वाले साधक बारम्बार शरणागति न करे। एक बार शरणागति से ही हम सब मनोरथों को पूर्ण करने के लिये तैय्यार है, अनेक बार शरणागति करने पर मुझे ऋणी बनना होगा क्योकि उन शरणागतो के लिये देने योग्य कोई वस्तु मेरे पास नही है। बारम्बार शरणागति करके लोग मुझे ऋणी न बनाये। एक बार शरणागति करने पर ही जब मै सब कुछ देदेता हूँ यहाँ तक कि उभयविभूतियुक्त स्वय को जब मै खुद उठाकर दे देता हूँ तवास्मि अर्थात् आपका होकर रहता हूँ ऐसे कहने वाले शरणागतो

के प्रति मै तवास्मि कहकर उनके अधीन होकर रहता हूँ, इसमे अपना सौभाग्य समझता हूँ। क्या तब बारम्बार शरणागति करने की आवश्यकता है ? शरणागतो को यही चाहिये कि वे मेरी इच्छा के अनुसार चलें। स्वामी की इच्छा के अनुसार चलना ही दासो को शोभा देता है, वे मेरे औदार्य का ख्याल करें, यह समझें कि स्वामी की इच्छा के अनुकूल चलना मेरा स्वरूप है। शरणागति के प्रभाव को भी समझें। एक बार की शरणागति सर्वफल दे सकती है। इन सब बातो को समझकर शरणागतो को एक बार ही शरणागति करना चाहिये। अनेक बार शरणागति कभी न करे। श्रीरङ्गनाथ भगवान् अभयमुद्रा से अलङ्कृत करतल से इस अभिप्राय को व्यक्त करते हैं। लोक मे वह मुद्रा अभय देने के प्रसग मे भी आती है तथा मना करने के प्रसग मे भी आती है। श्रीरगनाथ भगवान् के दक्षिणहस्त मे विराजमान उस मुद्रा को देखने पर यही प्रतीत होता है कि श्रीभगवान् इस मुद्रा से अभय देते है तथा किसी बात को मना भी करते हैं। वह कौन सा बात है ? जिसे मना करते हैं। शास्त्र दृष्टि से विचार ने पर यही विदित होता है कि श्रीभगवान् बारम्बार की जाने वाली शरणागति के विषय में मना करते है। उस मुद्रा को देखने पर ऐसी उत्प्रेक्षा प्रकट होती है।

अस्तु, प्रार्थना यही है कि श्रीरगनाथ भगवान् का अभयमुद्रा से अलकृत दक्षिण श्रीहस्त—जो साधको की बारम्बार शरणागति को मानों मना करता रहता है—मेरी रक्षा करे ॥२॥

> अनादेर्निस्सीम्नो दुरितजलधेर्यन्निरुपमं
> विदुः प्रायश्चित्तं यदुरघुधुरीणाशयविदः ।
> तदारम्भे तस्या गिरमवदधानेन मनसा
> प्रपद्ये तामेकां श्रियमखिलनाथस्य महिषीम् ॥३॥

पूर्व श्लोक से श्रीदेशिक स्वामी जी ने बतलाया कि शरणागति एक बार ही करना चाहिये श्रीरगनाथ भगवान् का श्रीहस्त इसी अर्थ को सूचित करता है। इस श्लोक मे श्रीदेशिक स्वामी जी अपने

अनुसन्धान के द्वारा श्रीमहालक्ष्मी जी के विषय में शरणागति का वर्णन करते हैं। प्रपन्नों को श्री भगवान् की शरण में जाने के पूर्व श्रीमहालक्ष्मी जी की शरण में जाना पड़ता है। इसे ही श्रीप्रपत्ति कहते हैं। श्रीमहालक्ष्मी जी की शरण में जाने वाले साधक इस श्लोक का अनुसन्धान करते हुए श्रीमहालक्ष्मी जी की शरण में जाय इस प्रकार शिक्षा देने के अभिप्राय से श्री देशिक स्वामी जी इस श्लोक में स्वयं महालक्ष्मी जी की शरण में जाते हैं।

मधुरमधुरोल्लासविश्रोमादेनिस्लोक्रो दुरितजलधिनिरवम प्राय शिरस यद् विदु:। बद्ध जीवों को भी श्रीभगवत्प्राप्ति में सहज अधिकार है क्योंकि ये भी श्री भगवान् के दास हैं जिस प्रकार स्वाभाविक दास होने के कारण नित्यसूरि और मुक्तगण ब्रह्मानन्द का अनुभव लेते हुए श्री भगवान् की सेवा करते हैं उसी प्रकार सहज दास होने के कारण बद्ध जीवों को भी ब्रह्मानन्द का अनुभव लेना तथा श्री भगवान् का कैङ्कर्य करना चाहिये था परन्तु बद्ध जीव उस सौभाग्य को अभी तक प्राप्त न कर सके इसका कारण यही है कि ये बद्ध जीव अनादि काल से श्री भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करते हुए नाना प्रकार के पाप करते आये हैं। कब से ये बद्ध जीव श्रीभगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करने लगे तथा पाप बटोरने लगे इसका कोई पता नहीं है। बड़े २ महर्षिगण भी जब इसका पता लगाने लगे तब उन्हें यही प्रतीत हुआ कि यह जन्म पूर्वजन्म के कर्मों का फल है, पूर्वजन्म भी उसके पूर्वजन्मों के कर्मों का फल है इस प्रकार कर्मों के पूर्वजन्म तथा जन्मों के पूर्व कर्मों का पता चला। सर्वप्रथम जन्म कैसा हुआ? इस प्रश्न के उत्तर में उन लोगों ने यही पाया कि सर्वप्रथम जन्म कोई नहीं जिस जन्म को सर्वप्रथम जन्म मान लिया जाता है उसके पूर्व भी अनेक जन्म हुए हैं। इन सब बातों का पता लगाकर त्रिकालदर्शी महर्षियों ने यही निर्णय निकाला कि अनादिकाल से जीव को संसार लगा है संसारजन्मपरम्परा और कर्मपरम्परा अनादिकाल से जीव से सम्बद्ध है। इनके प्रारम्भ का पता बिलकुल नहीं चलता है। इसलिये

मानना पड़ता है कि बद्धजीवो का कर्म अनादि है। यही कर्म भगवत्प्राप्ति का प्रतिबन्धक है पुण्य कर्म सांसारिक फलो मे आसक्ति बढ़ाकर भगवत्प्राप्ति को रोक देते हैं, पापकर्म दु:ख भुगाने के लिये जीवो को संसार मे रखकर तद्द्वारा भगवत्प्राप्ति को रोक देते हैं। पुण्य और पाप ये दोनो भगवत्प्राप्ति के प्रतिबन्धक होने के कारण पापकोटि मे ही गिनने योग्य हैं। भगवत्प्राप्ति के चाहने वाले सज्जनो को यह दोनो कर्म अनिष्ट फल ही देते हैं। इनको पाप कहने मे कोई अत्युक्ति नही है इसलिए यह दोनो कर्म दुरित कहलाते है। अनादिकाल से अर्जित यह दुरित कम नही है, किन्तु समुद्र के समान अपार है, जिस प्रकार समुद्र नदियो के जल से भरता रहता है उसी प्रकार यह पापसमुद्र भी प्रत्येक जन्म मे प्रतिक्षण मे किये जाने वाले छोटे मोटे पापो से भरता ही जारहा है। जिस प्रकार समुद्र का अन्त नही है, उसी प्रकार इस पाप का भी तांता मिटता नही है। जिस प्रकार समुद्र को सुखाना कठिन है, अनादिकाल से अर्जित इस अपार पापराशि को नष्ट करना भी कठिन है। यद्यपि धर्मशास्त्रो मे पापो को नष्ट करने केलिए प्रायश्चित्त कहे गये हैं, परन्तु वे प्रायश्चित्त एक-एक पाप को नष्ट कर सकते हैं, संपूर्ण पापों को नष्ट नही कर सकते क्योकि एक-एक पाप का नाम लेकर ही उनको नष्ट करने केलिए उन प्रायश्चित्तो का विधान धर्मशास्त्रो मे पाया जाता है। तब क्या इस अनादि निःसीम पापसमुद्र को नष्ट करने केलिए कोई एक प्रायश्चित्त नही है। क्यो नही ! अवश्य है। वह प्रायश्चित कौन है ? श्री भगवच्छरणागति ही वह प्रायश्चित्त है जिससे भगवत्प्राप्ति के प्रतिबन्धक सभी पाप नष्ट हो जाते है। भले ही अन्यान्य प्रायश्चित्त सम्पूर्ण पापो को नष्ट करने केलिए सामर्थ्य न रक्खें, श्री भगवच्छरणागति तो सभी पापों को नष्ट करने केलिये पूर्ण सामर्थ्य रखती है। श्री भगवान् की आज्ञा उल्लंघन करने से बनने वाले पाप श्री भगवान् के मन मे निग्रह-संकल्प को उत्पन्न कर जीवो को भगवत्प्राप्ति से वंचित कर देते है क्योंकि जीवो के पापाचरण को देखकर श्री भगवान् के ऐसे-ऐसे

निग्रहसकल्प होते है कि यह पापाचारी जीव हमको प्राप्त न करले, हमारी प्राप्ति के साधनो को न करे सासारिक यातनाये भोगते रहे इत्यादि । श्री भगवान् की सन्निधि मे शरणागति करने पर श्री भगवान् के मन मे ऐसा उच्चकोटि का अनुग्रह सकल्प उत्पन्न होता है जिसके सामने सभी निग्रहसकल्प शान्त होते है पापो का नष्ट होने मे शका कसी ? अन्यान्य प्रायश्चित्तो को करने पर श्री भगवान् के मन मे ऐसा उच्चकोटि का अनुग्रह उत्पन्न नही होता । यह तो शरणागति करने पर ही उत्पन्न होता है । अन्यान्य प्रायश्चित्तों से साधारण सकल्प ही उत्पन्न होता है जिससे एक २ पापकर्म से उत्पन्न एक २ निग्रहसकल्प ही शान्त होता है । शरणागति से ही सर्वविध पापो को नष्ट करने वाला तथा सर्वविध निग्रहसकल्पो को नष्ट करने वाला अनुग्रहसकल्प उत्पन्न होता है । अतएव शरणागति सर्वोत्तम मानी जाती है । शरणागति के समान प्रायश्चित्त कही नही है । इस मर्म को श्री भगवान् रामचन्द्र तथा श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र की दिव्य आज्ञाओ के रहस्य को समझने वाले हमारे पूर्वाचार्यों ने ही समझा है । श्रीभगवान् रामचन्द्र जी रघुवंशियो मे धुरीण है श्री भगवान् कृष्णचन्द्र जी यदुवंशियो मे धुरीण है । श्री भगवान् रामचन्द्र जी ने युद्धकाण्ड विभीषण शरणागति के प्रसङ्ग मे विभीषण को अभय देते हुये कहा है कि—

दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतदगर्हितम् ।
सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभय सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रत मम ॥

अर्थात् यदि शरण मे आने वाले मे दोष भी हो तो भी उसे कोई पर्वाह नही सत्पुरुषो के लिये शरणागतो का दोष गर्हित नही होता । जो एक बार ही शरण मे आया हो तथा मै आपका होकर रहूँ ऐसा मागता हो उसको मैं (श्री राम जी) सब प्राणियों से अभय देता हूँ यह मेरा व्रत है । श्री भगवान् की इस उक्ति से सूचित होता है कि सर्वभूतो से अभय देने केलिये सन्नद्ध श्री भगवान्

अपनी तरफ से भी उसको भय न देने केलिये सन्नद्ध है। श्रीभगवान् के निग्रहसङ्कल्पो के कारण ही तो यह महाभयावह ससार जीव के पीछे लगा है, कभी जीव को छोडता नही। यहा श्रीभगवान् का यह भाव व्यक्त होता है कि शरणागतो को मै अभय दे देता हूँ, शरणागतो को न मुझ से डरना चाहिये, न सर्व प्राणियो से। शरण मे आने पर मैं महाभयावह ससार मे पहुँचाने वाले सभी निग्रहसकल्पो को त्यागकर अत्यन्त अनुग्रह के साथ अभयपद पहुँचा देता हू इससे सिद्ध होना है कि श्रीभगवच्छरणागति सर्व-पापो का प्रायश्चित्त है।

श्री भगवान् कृष्णचन्द्र जी ने श्री गीता के चरमश्लोको मे यह कहा है कि हे अर्जुन तुम सर्व धर्मो को छोडकर मुझ एक की शरण मे आजाओ, मैं तुम को सर्वपापो से छुडा दूँगा तू शोक मत कर। इससे सिद्ध होता है कि श्री भगवान् शरणागतो को सर्व पापो से छुडाने के लिये तैयार है, तथा शरणागति सर्वपापो का प्रायश्चित्त है।

शरणागति को प्रायश्चित्त कहने मे यह ध्वनित होता है कि साधको को भगवत्प्राप्ति के प्रतिवन्धक पापो को नष्ट करने के लिये ही उद्योग करना चाहिये। प्रतिबन्धक नष्ट होने पर श्री भगवत्प्राप्ति अपने आप हो जायगी। जिस प्रकार बाँध को तोडने पर जल अपने आप वहने लगता है, जल का वहना स्वाभाविक है, उसी प्रकार प्रतिवन्धक सभी पापो को मिटाने पर जीवो को भगवत्प्राप्ति अपने आप हो जायगी, जीवो को भगवत्प्राप्ति न्यायप्राप्त है। उसके लिये अलग प्रयत्न करने की आवश्यकता नही। यह अर्थ शास्त्रो मे "यथा न क्रियते ज्योत्स्ना" इत्यादि श्लोको मे कहा गया है।

"तदारम्भे तस्या गिरमवदधानेन मनसा तामखिलनाथस्यैका महिर्षी प्रिय प्रपद्ये"। इस अर्थ से श्रीदेशिक स्वामी जी यह वतलाते हैं कि श्रीभगवच्छरणागति सपूर्ण पापो का प्रायश्चित है। इसमे सन्देह नही है। मै श्री भगवान् की शरण मे जाने के लिये सन्नद्ध हू परन्तु भय लग रहा है कि अनादिकाल से अनन्त अपराध करने वाला

मै श्रीभगवान् की शरण मे जाने के लिये कसे हिम्मत करूँ। अभी तक यही होता आया है कि हम अपराध करते गये, श्रीभगवान् भी दण्ड देते गये प्रायश्चित्त न करने पर किसी भी पाप के विषय मे श्रीभगवान् ने क्षमा नही की। पापो को गिन गिनकर श्रीभगवान् दण्ड देते आये है। इसमे श्रीभगवान् का कोई दोष नही है सपूर्ण दोष मेरा है। मेरे द्वारा अपराध बनने पर ही तो श्रीभगवान् ने दण्ड दिया है। शासक अपराधी को दण्ड दे, यह उचित ही है। श्रीभगवान् जगत् के पिता हैं पिता हितपी होते है हितपी पिता के समान श्रीभगवान् भी जीवो को सुधारने के लिये ही न कि पीडा पहुँचाने के लिये अपराधी जीवो को दण्ड देते है। श्रीभगवान् मे दोष न होने पर भी अपराधी हमको श्रीभगवान् की शरण म जाने मे भय और सकोच हो रहा है, समक्षउपस्थित अपराधी हमको श्रीभगवान् कही दण्ड न द यह भय लगता है। शरण मे जाने पर भी यदि दण्ड मिले तो वह शरणागति किस काम की ? इससे शरण मे न जाना ही कही अच्छा है। क्या करूँ ? ससार भय मे बचने के लिये शरणागति ही एक साधन रह गया उसको करने मे भी कठिनाई है क्या किया जाय ? अपराधी हमको सबलोकशरण्य श्रीभगवान् भी शरण न रहे क्या हमारी इस दुदशा का अन्त नही है ? इस प्रकार के विचारों मे डूबे हुए हमको श्री महालक्ष्मी जी के उस वचन का स्मरण हुआ जो उन्होंने श्रीभगवान् की शरण मे ज ने के लिये उत्सुक तथा भयभीत साधको के प्रति कहा है कि—

मामेका देवदेवस्य महिषीं शरण व्रजेत्'

अर्थात्—श्रीभगवान् की शरण मे जाने मे उत्सुक तथा भयभीत साधक देवाधिदेव श्रीभगवान् की प्रधानमहिषी मुझ एक की शरण मे आजावे। श्रीमहालक्ष्मी जी के इस वचन पर हमने अब ध्यान देकर विचार किया तब प्रतीत हुआ कि श्री महालक्ष्मी जी जगत् की माता है लोक मे देखा जाता है कि माता का अपराधी पुत्रो पर भी सहजस्नेह हुआ करता है। माता, दण्ड देना तो जानती नहीं वह समझाबुझाकर पति के क्रोध को शान्त कर अपराधी पुत्रो को

पति के समीप पहुँचा देती है। जगन्माता श्रीमहालक्ष्मी जी मे यह बात पूर्ण रूप मे घटती है। शरणागत अपराधी जीवो को भी अपनाने के लिये श्री महालक्ष्मी जी श्रीभगवान् से साग्रह निवेदन करती है कि हे प्राणनाथ! यदि आप अपराधो को गिन २ कर जीवो को दण्ड देते ही रहेगे, तथा सर्वदा के लिये वैकुण्ठ द्वार को बन्द करके रक्खेगे तो इन जीवो का उद्धार कैसे होगा? क्या आप का ये जीव सम्बन्धी नही है, आप इनके स्वामी है, ये आपका दास है, यह सम्बन्ध आज का नही है, यह नित्यसिद्ध है, क्या यह सम्बन्ध कभी मिट सकता है? क्या इस प्रकार के अमिट सम्बन्ध के रहते आपको इनकी उपेक्षा करना उचित है? क्या खोये हुए जीवो को प्राप्त करना आपका लाभ नही है। भगवन्! शरणागत जीवो को अपनाने पर आपका ही अलभ्य लाभ होता है। खोई हुई वस्तु को प्राप्त होने पर स्वामी को जितना आनन्द होता है उतना दूसरे किसी को नही होता। यह सर्वानुभूत सत्य है। अस्तु। आप ने इस विचार से तो सृष्टि का प्रारम्भ किया कि सृष्टि करने पर जीव करण और कलेवर को प्राप्त होगे, उनमे कई जीव इन इन्द्रिय और शरीर के द्वारा साधनो का अनुष्ठान करके हमको प्राप्त करेगे। सर्वदा प्रलय मे रखना उचित नही। आपका ध्यान सर्वदा इस बात पर ही तो रहता है कि कब कौन हमारे जाल में फँसेगा फँसे हुए को कब मैं उठालूँ। इस ध्यान के साथ ही तो आप सर्वदा जीवो को खोजते रहते है आपको कोई भी बात हमसे छिपी नही रहती है। ऐसी स्थिति में सम्मुख आये हुए इन शरणागत जीवो को उपेक्षा करना क्या आपको उचित है! क्या इससे आगे आपका पश्चात्ताप नही होगा? यदि आप यह विचार करते हो कि अपराधी जीवो को अपनाने पर दण्डविधायक शास्त्रो का क्या महत्त्व रहेगा? मैं पूछ्ती हूँ कि यदि आप इस प्रकार दण्ड देते ही रहेगे तो आपके दया क्षमा और औदार्य इत्यादि गुणो का क्या महत्त्व रहेगा? उचित तो यही है कि शास्त्रो का महत्त्व भी बना रहे तथा आपके कल्याणगुणो का महत्त्व भी बना रहे। तदर्थ आप ऐसा करे कि

दण्डविधायक शास्त्रो को अपराध करने वाले उन जीवो के विषय मे लागू कर दीजिये जो आपसे विमुख हैं। आप दया क्षमा और उदारता इत्यादि कल्याणगुणो को उन जीवो के विषय मे लगा दीजिये जो अपराधी होने पर भी आपके शरण में आये हुए हैं इस मोहमय ससार मे निरपराध जीव मिलना तो सर्वथा असमव है। न कश्चिन्नापराध्यति। सब से कुछ न कुछ अपराध तो होता ही रहता है। निरपराध जीवो को प्राप्त करने की आशा छोड दीजिये। इस ससार मे तो अपराधी जीव ही मिलगे। इन अपराधी जीवों के विषय मे दण्डविधायक शास्त्रो के अनुसार तथा सम्मुख प्रार्थित जीवो के विषय मे कल्याणगुणो के अनुसार व्यवहार कीजिये। तभी आपके शास्त्र और कल्याणगुण जीवित रहगे। इस प्रकार श्री महालक्ष्मी जी जोरदार शब्दों मे जब श्रीभगवान् को समझाती है सारग्राही श्रीभगवान् को झुकना ही पडता है। शरणागतो के विषय म यह सब करने के लिये श्री महालक्ष्मी जी सर्वदा सन्नद्ध अतएव उपर्युक्त वचन से कहती है कि हे अपराधी जावो ! तुम लोग हमारे शरण म आजाओ मै आप लोगो को श्रीभगवान् के शरण मे पहुचा दूगी भयभीत होने की कोई आवश्यकता नही । मैं देवदेव श्रीभगवान की प्रधान महिषी हूँ मेरी बात को श्रीभगवान् टाल नही सकते। श्रीभगवान देवो के भी देव है प्रत्येक देव एक २ लोक का नाथ है देवा के देव श्री भगवान् सभी लोकों के नाथ है, वे सर्वसमर्थ है सत्यसकल्प है उनका सकल्प होते ही आप लोगो की रक्षा हो जायगी। जिस प्रकार श्रीभगवान के शरण म आने के पूर्व मेरे शरण म आना पडता है वैसे मेरे शरण में आने के पूर्व दूसरे किसी के शरण म आने की नौबत नही होगी। मुझ एक के शरण म ही आजायें। मै सब कुछ दूगी। अपराधी जीवो के दण्डदाता श्रीभगवान् की शरण म जाने के पूर्व श्रीभगवान् के कोप को शान्त [illegible] वाली मेरी शरण म आना नितान्त आवश्यक है। मै तो [illegible] तनिग्रहा हूँ दण्ड देना तो मै जानती नही अपराधी जीवों को

भी निर्भय होकर मेरी शरण मे आजाना चाहिये। दूसरे किसी के शरण मे जाने की आवश्यकता नहीं। यह उपर्युक्त श्रीमहालक्ष्मी जी के वचन का भाव है। श्री देशिक स्वामी जी श्रीमहालक्ष्मी जी के वचन में स्थित देवदेव पद को अखिलनाथ पद से सूचित करते हुए तथा एकाम् और महिषी पद को वैसे ही लेते हुए इस श्लोक के उत्तरार्ध से कहते है कि मैं श्री भगवान् के शरण मे जाने के पूर्व श्री महालक्ष्मी जी के वचन के भावार्थ को पूर्ण रूप से हृदयगम कर अखिललोकनाथ श्रीभगवान की प्रधान महिषी जगन्माता श्रीमहालक्ष्मी जी के शरण मे जाता हूँ ॥३॥

(४)

महेन्द्राग्नाविष्णुप्रभृतिषु महत्त्वप्रभृतिवत्
प्रपत्तव्ये तत्त्वे परिणमितवैशिष्ट्यविभवाम् ।
अधृष्यत्वा धृत्वा कमितुरभिगम्यत्वजननीं
श्रियं शीतापाङ्गामहमशरणो यामि शरणम् ॥

पूर्व श्लोक मे श्री देशिक स्वामी जी ने श्री महालक्ष्मी जी के कथन के आधार पर श्रीभगवच्छरणागति के पूर्व श्रीमहालक्ष्मी जी के शरण मे जाने का वर्णन किया है। इस श्लोक मे अपने अनुष्ठान के द्वारा श्री महालक्ष्मी जी को पुरुषकार एव उपाय मानकर उनके शरण मे जाने का वर्णन करते है। पुरुषकार उनको कहते है जो जो प्रार्थी सज्जनो को समर्थ एव दयालु महानुभाव के समीप पहुँचा कर इन सज्जनो के मनोरथ को पूर्ण करने के लिये उनको नाना प्रकार से समझाकर प्रोत्साहित करते है। भाव यह है कि घटक-सत्पुरुष पुरुषकार कहलाते है। श्रीमहालक्ष्मी जी प्रार्थना करने वाले शरणागतो को श्रीभगवान् के यहाँ पहुँचाकर इनकी रक्षा करने के लिये श्री भगवान् को नाना प्रकार से प्रोत्साहित करती रहती है। इसलिये श्री सम्प्रदाय मे श्रीमहालक्ष्मी जी पुरुषकार मानी जाती हैं। यह श्री लक्ष्मी का एक आकार है। श्रीमहालक्ष्मी जी का दूसरा आकार यह है कि श्री लक्ष्मी जी श्री भगवान् के समान उपाय

बनती है। जिस प्रकार श्रीभगवान् शरणागतों के लिये उपाय बनते है, उसी प्रकार श्री महालक्ष्मी जी भी उपाय बनती है। यहाँ यह विशेषता ध्यान देने योग्य है कि ये दोनो अलग २ उपाय नही बनते किंतु दोनों मिलकर बनते हैं श्रीमहालक्ष्मी जी पत्नी होने के कारण विशेषण के रूप म श्रीभगवान् पति होने के कारण विशेष्य के रूप मे मिलकर उपाय बनते है। यह अर्थ इन शब्दों में कहा जाता है कि महालक्ष्मी से विशिष्ट नारायण उपाय हैं। इस प्रकार विशेषण के रूप म उपाय बनना श्रीमहालक्ष्मी जी का दूसरा आकार है। श्री महालक्ष्मी जी का तीसरा आकार भी है वह यह है कि श्रीमहालक्ष्मी जी प्राप्य भी बनती हैं, जिस प्रकार शरणागतो को श्री भगवान् प्राप्य है वसे ही श्रीमहालक्ष्मी जी भी प्राप्य हैं। अतएव श्री सम्प्रदाय मे दिव्यदम्पति प्राप्य माने जाते है। इस प्रकार श्रीमहालक्ष्मी जी के तीन आकार सिद्ध होते है। वे ये है कि पुरुषकारभाव उपायभाव और प्राप्यभाव। अतएव श्रीमहालक्ष्मी जी की स्तुति मे आकारत्रयसम्पन्नाम् ऐसा वर्णन आया है।

श्री देशिक स्वामी जी को श्रीमहालक्ष्मी जी के ये तीनो आकार मान्य हैं। श्रीसम्प्रदाय मे कई आचार्य श्रीमहालक्ष्मी जी के पुरुषकारत्व और प्राप्यत्व इन दोनो आकारो को ही मानते है उपायत्व को नही मानते। इन आचार्यों का भाव यह है कि अकेले श्री भगवान् ही उपाय बनते है दिव्यदम्पति उपाय हों सो बात नही। दिव्य दम्पति प्राप्य हो सकते है उपाय नही उपाय केवल श्रीभगवान् ही होते है, श्रीमहालक्ष्मी जी केवल पुरुषकार बनती हैं उपाय नही। जब श्रीभगवान् उपाय बनते हैं तब श्रीमहालक्ष्मी जी विशेषण के रूप मे उपाय नही बनती। उस समय श्रीमहालक्ष्मी जी उपलक्षण बन जाती हैं विशेषण नही। उपलक्षण और विशेषण का अन्तर दृष्टान्तों के द्वारा समझना चाहिये। दृष्टान्त यह है कि एक पुरुष दूसरों से पूछता है कि रात्रि मे आकाश मे चमकने वाले इन ग्रह नक्षत्र और ताराओ में चन्द्रशब्द से प्रतिपाद्य वस्तु कौन

है ? इसका उत्तर दोनो प्रकार से दिया जा सकता है। एक उत्तर तो यह है कि इस शाखा के अग्र भाग मे जो दिखाई देता है वह चन्द्र है। यहाँ पर चन्द्र शब्द से प्रतिपाद्य न होती हुई शाखा चन्द्र की सूचनामात्र देती है अतएव शाखा उपलक्षण मानी जाती है क्योकि वह चन्द्र शब्द के वाच्यार्थ कोटि मे अन्तर्भूत नही होती । यहाँ पर दूसरा उत्तर यह दिया जा सकता है कि इन ग्रह नक्षत्र और तारागण मे अधिक प्रकाशवाला पदार्थ चन्द्र है। यहाँ पर वह अधिकप्रकाश, चन्द्र के विशेषण के रूप मे वाच्यार्थ कोटि मे अन्तर्भूत हो जाता है क्योकि वह प्रकाश चन्द्र को कभी छोडता नही। शाखा तो कुछ समय बीतने पर उस ऋजुतारूपी सवन्ध को छोड देती है जो पहले चन्द्रमा के साथ रहा है। इसी प्रकार प्रकृत मे यह समझना चाहिये कि जब श्रीभगवान् प्राप्य होते हैं तब श्रीमहालक्ष्मी जी विशेषण के रूप मे प्राप्य होती हैं अतएव दिव्यदम्पति प्राप्य कहलाते है इसलिये ही द्वयमन्त्र के उत्तर भाग मे—जो प्राप्य स्वरूप को बतलाता है—**श्रीमते नारायणाय** यहाँ पर श्री जी विशेषण मानी जाती है। उसी मन्त्र के पूर्वखण्ड मे—जो उपाय स्वरूप को बतलाता है—**श्रीमन्नारायण** इस निर्देश मे श्री जी उपलक्षण बनकर रहती है क्योकि वह उपाय नही बनती हैं। उपाय वही बन सकते है जो मोक्ष देने का सकल्प कर सके, मोक्ष देने का सकल्प केवल श्रीभगवान् ही करते हैं। मोक्ष देने का सकल्प श्रीमहालक्ष्मी जी नही करती। मोक्ष देने का सकल्प श्रीमहालक्ष्मी जी नही करती है क्योकि इनको मोक्ष देने का अधिकार नही है, यह अधिकार श्रीभगवान् के लिये सुरक्षित है। यह कई आचार्यो का मत है।

यह उपर्युक्त मत श्रीवेदान्तदेशिक स्वामी जी को मान्य नही है। श्रीदेशिक स्वामी जी सम्प्रदायप्राप्त उपदेश के अनुसार श्रीमहालक्ष्मी जी के पूर्वोक्त तीन आकारो को मानने वाले है। श्रीदेशिक स्वामी जी का सिद्धान्त यह है कि द्वयमन्त्र मे पूर्वखण्ड तथा उत्तरखण्ड मे एक ही रूप श्रीमत् शब्द विद्यमान है। उसका

अर्थ दोनो खण्डो मे एक ही रूप से करना चाहिये । यही भाष्यानुमोदित है । इन दोनो श्रीमच्छब्दों के अर्थ म अन्तर करना अन्याय है । जिस प्रकार उत्तरखण्ड मे श्रीमहालक्ष्मी जी को विशेषण मान कर दिव्यदम्पतियो को प्राप्य माना जाता है उसी प्रकार पूर्वखण्ड मे श्रीमहालक्ष्मी जी को विशेषण मानकर दिव्यदम्पतियो को उपाय मानना चाहिये । शब्दस्वारस्य के अनुसार सिद्ध होने वाले अर्थ का अनादर करना उचित नही । जिस प्रकार लक्ष्मीविशिष्ट भगवान् प्राप्य होते है उसी प्रकार उपाय भी बन सकते है । सर्वदा श्रीभगवान् के साथ नित्य सम्बन्ध रखने वाली तथा श्रीभगवान् के प्रत्येक रक्षाकार्य मे सहयोग देनेवाली सहधर्मचारिणी महालक्ष्मी जी जीवो की रक्षा करने के लिये सकल्प न करें यह बात हो नही सकती । मोक्ष देने म दिव्यदम्पति दोनों का समान अधिकार है । परमदयालु और अज्ञातनिग्रह होने के कारण श्रीमहालक्ष्मी जी प्रथमत ही मोक्ष देने का सकल्प करती है तथा श्रीभगवान् के कोप को शान्त कर उनके द्वारा भी सकल्प करा देती है इस प्रकार दोनो के द्वारा सकल्प बन जाने पर साधको को मोक्ष मिलता है । लोक मे देखा जाता है कि दोनो का स्वामित्व जिस वस्तु मे है उस वस्तु को देने के प्रसग मे उन दोनो मे अत्यन्त दयालु व्यक्ति देने की इच्छा रखता हुआ दूसरे को भी समझाकर उसकी भी देने की इच्छा को उत्पन्न कर देता है दोनो की इच्छा के अनुसार वह वस्तु प्रार्थी को मिलती है वैसे ही प्रकृत मे भी समझना चाहिये । जिस प्रकार इन दिव्य दम्पतियों को जगत मे समान स्वामित्व है जिस प्रकार ये दोनो प्राप्य है उसी प्रकार इन दोनों को समान रूप से उपाय भी मानना चाहिये । इस अर्थ का विस्तृत वर्णन श्रीमद्रहस्यत्रयसार में है । विस्तार होने के भय से आगे का वोटिक्रम यहाँ छोड़ दिया जाता है ।

श्रीदेशिक स्वामी जी इस श्लोक मे श्रीमहालक्ष्मी जी के उपायत्व और पुरुषकारत्व इन दोनो आकारो का वर्णन करते हुए उनके शरण म जाते हैं ।

*हेन्द्राग्नाविष्णुप्रभृतिषु महत्त्वप्रभृतिवत् प्रपत्तव्ये तत्त्वे परिणामितवैशिष्ट्यविभवाम् अधृष्यत्व धृत्वा कमितुरभिगम्यत्व जननीं शीतापाङ्गा श्रियमशरणोऽह शरण यामि अर्थात् मै सर्वथा शरणहीन हूँ, कर्मयोग ज्ञानयोग और भक्तियोग ये उपाय तो मेरे यहाँ है ही नहीं, अज्ञ एव असमर्थ मै इन उपायो से सर्वथा शून्य हो गया हूँ, यह मेरी अत्यन्त दयनीय स्थिति है, सर्वलोकशरण्य श्रीभगवान भी मेरे लिये शरण नही रह गये है। अपराधो के अनुरूप दण्ड देने वाले श्रीभगवान् के शरण मे जाने मे हमको हिम्मत नही होती, मुझे भय लग रहा है कि कही वे हमको दण्ड न दे। इस प्रकार सर्वथा शरणहीन हमको एक ही शरण रह गया है। वह शरण कौन है? वे श्रीमहालक्ष्मी जी ही है। श्रीमहालक्ष्मी जी जगन्माता होने के कारण हमारे अपराधो की क्षमा करके हमको शरण दे सकती है। दयामयी माता श्री जी किसी को दण्ड देना तो जानती नही, आये हुए जीवो का उपलालन करना ही जानती है। उन दयामयी माता के शरण में मै जाता हूँ। श्रीमहालक्ष्मी जी स्वय आश्रय देती है इतनी ही बात नही, किन्तु श्रीभगवान् के शरण मे हमें पहुँचा भी देती हैं, इस काम को करने मे कभी वह हिचकती नही। श्रीभगवान् हमारे अपराधो को देखकर अतिमात्र कुपित क्यो न हो हम लोगो को दुरासद क्यो न हो तथा किसी के भी दबाव मे न आने वाले क्यो न हो, परन्तु करुणामयी जगन्माता उनकी इस कठोरता दुराधर्षता एव कोप को मिटाकर उन्हे हम लोगो के प्रति प्रसन्नमुख बना देती है, जिससे हमे भय एव सकोच को छोड़कर उनके शरण मे जाने मे उत्साह बढ़ जाता है। श्री भगवान् कितना ही रुष्ट क्यो न हो, श्रीमहालक्ष्मी जी उनके कोप को शान्त कर ही देती हैं। उन दोनो का प्रेमबन्धन इतना सुदृढ है जिससे श्रीभगवान् को भी अन्त मे श्रीमहालक्ष्मी जी की बात को मानना ही पडता है। इस प्रकार श्रीमहालक्ष्मी जी हमें श्रीभगवान् के सन्निधि मे पहुचाकर रक्षा करने के लिये उन्हे नाना प्रकार से प्रोत्साहित करती रहती है। यही श्रीजी का पुरुष-

कारत्व है। श्रीमहालक्ष्मी जी पुरुषकार बनती है इतनी ही बात नहीं किंतु श्रीजी उपाय बन जाती है। शरणागतों के विषय में श्रीमन्नारायण अर्थात् श्रीमहालक्ष्मीसमेत नारायण उपाय बनते है। यहाँ विचार करने पर सिद्ध होता है कि श्रीजी और नारायण भगवान् दोनो उपाय बनते हैं। श्रीविशिष्ट नारायण जब उपाय बनते है तब श्रीजी विशेषण के रूप मे और नारायण भगवान् विशेष्य के रूप मे उपाय बनते है। इस प्रकार दोनो विशेषण और विशेष्य के रूप मे उपाय बनते है। शरणागतो का केवल लक्ष्मी जी उपाय नही हैं तथा केवल भगवान् भी उपाय नही है किंतु लक्ष्मी विशिष्ट नारायण ही उपाय है। यह द्वयमन्त्र पूर्वखण्ड के श्रीमन्नारायण पद से व्यक्त है। वहाँ श्री लक्ष्मी जी विशेषण के रूप मे श्रीभगवान् विशेष्य के रूप मे प्रतिपादित होते है। ये दोनों अलग अलग उपाय नही हैं किंतु मिलकर ही उपाय है। जिस प्रकार एक ही द्वित्व सख्या दोनों पदार्थो म समाविष्ट रहती है उसी प्रकार एक ही उपायत्व श्री जी और नारायण म समाविष्ट रहता है। इस अर्थ को अनेक वैदिक दृष्टान्तो के द्वारा हृदयगम करना चाहिये। वे वैदिक दृष्टान्त तीन है। उनका वर्णन इस प्रकार है (१) वेद म महेन्द्रयाग का विधान है। उस याग म महेन्द्र आराध्य हैं। महेन्द्र शब्द का अर्थ है महत्त्वविशिष्ट इन्द्र। यह महत्त्वविशिष्ट इन्द्र उस याग मे देवता बनते है केवल इन्द्र नही। महेन्द्र शब्द से महत्त्वविशिष्ट प्रतिपादित होने के कारण वही उस याग मे देवता माने जाते है केवल इन्द्र नही। उसी प्रकार प्रकृत मे द्वयमन्त्र पूर्वखण्ड स्थित श्रीमन्नारायण शब्द से श्रीविशिष्ट नारायण प्रति पादित होने के कारण श्रीविशिष्ट नारायण ही उपाय मानने योग्य है, श्रीजी को छोडकर केवल नारायण नही। (२) वेद मे आग्ना वैष्णव याग का विधान है। इस याग मे अग्नि और विष्णु दोनों मिलकर देवता माने जाते हैं क्योकि आग्नावैष्णव शब्द मे अग्ना विष्णु द्वन्द्वसमास के बाद देवतार्थ को बतलाने वाला तद्धित प्रत्यय उपस्थित हुआ है। यहाँ अग्नि और विष्णु मे एक ही देवतात्व

माना जाता है, उन दोनो का नाम लेकर एक ही वार आहुति दी जाती है। अलग अलग देवतात्व होने पर प्रत्येक का अलग २ नाम लेकर अलग २ आहुति देनी पडती, परन्तु दोनो मे एक ही देवतात्व विद्यमान होने के कारण एक ही आहुति दी जाती है। वैसे ही प्रकृत मे भी समझना चाहिये। शरणागति मे श्रीविशिष्ट नारायण के प्रति आत्मरूपी हवि तथा रक्षाभार का समर्पण एक बार ही किया जाता है इस समर्पण के प्रति जो उद्देश्यता है, वह एक ही विशिष्ट नारायण मे रहती है। अतएव श्रीविशिष्ट नारायण मे उपायत्व एक कहा जाता है। (३) वेद मे यह विधान है कि **इन्द्राय पुत्रिणे पुरोडाशमेकादशकपाल निर्वपेत्।** अर्थात्—पुत्रविशिष्ट इन्द्रदेव के लिये ग्यारह कपालो मे सस्कृत पुरोडाश द्रव्य से याग करे। इस याग मे पुत्रविशिष्ट इन्द्र देवता है, केवल इन्द्र नही केवल पुत्र भी नही, किंतु पुत्रविशिष्ट इन्द्र देवता है। एक ही देवतात्व पुत्रविशिष्ट इन्द्र मे माना जाता है। पुत्रविशिष्ट इन्द्र का नाम लेकर एक ही बार आहुति दी जाती है। वैसे ही प्रकृत मे द्वयमन्त्र के पूर्वखण्ड से श्रीविशिष्ट नारायण मे एक ही उपायत्व बोधित होता है। वह एक ही उपायत्व विशेषण बनने वाली श्रीलक्ष्मी जी तथा विशेष्य बनने वाले श्रीभगवान् इन दोनो मे द्वित्व सख्या की तरह समाविष्ट रहता है। इस प्रकार श्रीमहालक्ष्मी जी शरणागति मे विशेषण के रूप मे उपाय बनती है। इस प्रकार उपाय बनना श्रीमहालक्ष्मी जी का दूसरा आकार है। तीसरा प्राप्यत्व आकार तो है ही। उसमे किसी का भी विवाद नही। श्रीमहालक्ष्मी जी इस प्रकार पत्नी होने के कारण विशेषण बनकर उसी प्रकार श्रीभगवान् की महत्ता को बढा रही हैं जिस प्रकार प्रभा विशेषण बनकर प्रभावान दीप की महत्ता को बढाती है। जिस प्रकार दीप्ति विशेषण बनकर दीप्तिविशिष्ट रत्न के मूल्य को बढाती है, तथा जिस प्रकार सुगन्ध विशेषण बनकर सुगन्धयुक्त पुष्प की महत्ता को बढाता है उसी प्रकार श्रीमहालक्ष्मी जी विशेषण बनकर श्रीभगवान् की वस्तु बनकर श्रीभगवान् की महिमा को

बढ़ाती है। इस प्रकार श्रीमहालक्ष्मी जी एक तरफ श्री भगवान् की महिमा को बढ़ाती है तो दूसरी तरफ करुणापूर्ण शीतल दृष्टिपातों से आश्रित जीवों को निहारती है।

सारांश यह है कि इस श्लोक से श्रीदेशिक स्वामी जी कहते हैं कि शरणहीन में महेन्द्र ब्रह्माविष्णु और पुत्रविशिष्ट इन्द्र इत्यादि मे महत्त्व इत्यादि के समान शरण देने वाले श्रीभगवान् के विषय मे विशेषण बनकर महत्त्व को बढ़ानेवाली विशेषण के रूप में उपाय बनने वाली श्रीभगवान् के कोप को शान्तकर उनको हम लोगों के प्रति सुमुख बनाने वाली तथा सर्वदा करुणारसपूरित शीतल दृष्टिपात करनेवाली श्रीमहालक्ष्मी जी के शरण मे आता हूं ॥४॥

(५)

स्वतः सिद्धं श्रीमानमितगुणभूमा करुणया
विधाय ब्रह्मादीन् वितरति निजादेशमपि यः ।
प्रपत्त्या साक्षाद्वा भजनशिरसा वापि सुलभं
मुमुक्षुर्देवेशं तमहमधिगच्छामि शरणम् ॥

श्रीदेशिक स्वामी जी ने दोनो श्लोकों से श्रीमहालक्ष्मीशरणागति का वर्णन किया है। वे इस श्लोक से श्रौत प्रमाण को सूचित करते हुए श्रीभगवान् के शरण मे जाते है तथा साथ ही श्रीभगवच्छरणा गति के स्वरूप का भी वर्णन करते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् मे मुमुक्षु की भगवच्छरणागति का वर्णन है। उससे सिद्ध होता है कि मोक्ष चाहने वाले सज्जनो को श्रीभगवान् के शरण मे जाना चाहिये। वह उपनिषद्वचन यह है कि—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥

अर्थात्—जिस श्रीभगवान् ने सर्वप्रथम ब्रह्मा जी की सृष्टि की तथा जिस भगवान् ने ब्रह्मा जी को वेदों का उपदेश दिया था अपने विषय मे बुद्धि का प्रकाश करने वाले उन इष्टदेव श्रीभगवान्

के शरण मे मैं मुमुक्षु जाता हूँ। इस मन्त्र से फलित होता है कि मोक्ष चाहने वाले साधको को श्रीभगवान् के शरण मे जाना चाहिये। इस मन्त्रार्थ को स्पष्ट करते हुए श्रीदेशिक स्वामी जी इस श्लोक मे श्रीभगवान् के शरण मे जाते हैं।

स्वत. सिद्धोऽमितगुणभूमा यः श्रीमान् करुणया ब्रह्मादीन् विधाय निजादेशमपि वितरति मुमुक्षुरह प्रपत्त्या साक्षाद्वा भजन-शिरसा वापि सुलभ तं देवेश शरणमधिगच्छामि अर्थात् मोक्ष चाहने वाला मै देवो के ईश्वर श्रीमन्नारायण भगवान् के शरण मे जाता हूँ। वे श्रीभगवान् कैसे है ? वे श्रीभगवान् प्रपत्ति अर्थात्त शरण गति के द्वारा ही प्राप्य हैं। शरणागतो को ही श्रीभगवान् मिलते है। शरणागति दो प्रकार की है। एक स्वतन्त्र प्रपत्ति है, दूसरी अङ्ग प्रपत्ति है। स्वतन्त्र प्रपत्ति करने पर साक्षात् भगवान् प्राप्त होते हैं, स्वतन्त्र प्रपत्ति करने वाले साधको को शरणागति के उत्तरकाल मे श्रीभगवत्प्राप्ति के लिये कुछ भी करना नही पडता। अङ्ग प्रपत्ति करने वालो को शरणागति के बाद भक्तियोग करना पडता है, भक्तियोग सपन्न होने पर श्रीभगवान् मिलते है। प्रपत्ति करने के बाद श्रीभगवान् चाहे साक्षात् मिलें, चाहे भक्तियोग के द्वारा मिलते हैं शरणागतो को ही। जो किसी प्रकार से भी शरण मे न आया हो उसको श्रीभगवान् कभी नहीं मिलते। ये ही श्रीभगवान् सृष्टि के आरम्भ मे ब्रह्मा जी इत्यादियो की सृष्टि करके उनको वेदो का प्रदान करते है। यहाँ पर कोई महा-नुभाव यह शका भी कर सकते हैं कि जिस प्रकार श्रीभगवान् ने ब्रह्मा जी की सृष्टि की उसी प्रकार श्रीभगवान् की सृष्टि किसने की ? इस शङ्का का उत्तर यह है कि किसी ने भी श्रीभगवान् की सृष्टि नही की क्योकि वे स्वत सिद्ध हैं अर्थात् नित्य है। नित्य पदार्थ की सृष्टि कैसी ? ब्रह्मा इत्यादि जीवगण प्रलयकाल मे प्रकृति मे लीन हो जाते है, इसलिये पुन उनकी सृष्टि करनी पडती है, प्रलयकाल मे श्रीभगवान् प्रकृति मे लीन नही होते, किंतु प्रकृति श्रीभगवान् मे लीन हो जाती है। श्रीभगवान् सर्वदा एक रूप से

बने रहते है। इस विराट सृष्टि का सृजन करना वस्तुत बडी सिद्धि है। इस सिद्धि को श्रीभगवान् ने कैसे प्राप्त किया ? क्या किसी साधनानुष्ठान के द्वारा प्राप्त किया ? उत्तर यह है कि श्रीभगवान् ने किसी साधनानुष्ठान के द्वारा इस सिद्धि को नही पाया क्योंकि वे स्वत सिद्ध है, स्वय सर्वसिद्धिसम्पन्न हैं। वे श्रीमान् हैं श्रीजी सर्वसिद्धियो की स्वामिनी है वे श्रीजी श्रीभगवान् का आश्रय लेकर ही सौभाग्यवती हो रही है यदि सब सिद्धियों की स्वामिनी श्री जी के स्वामी सिद्धिसपन्न रहे इसमे कोई आश्चर्य नही। सिद्धि सपन्न न होने पर ही आश्चर्य मानना चाहिये। श्रीभगवान् स्वत सिद्ध है इतना ही नही *किंतु अगणित एव अपार कल्याण गुणों* के निधि है। उन मे परत्व का समर्थन करने वाले ज्ञानशक्ति बल ऐश्वर्य वीर्य और तेज ये छ गुण विद्यमान हैं तथा सौलभ्य को सिद्ध करने वाले सौशील्य वात्सल्य मार्दव आर्जव सौहार्द साम्य कारुण्य गाम्भीर्य औदार्य इत्यादि कल्याण गुण भी विद्यमान है। श्रीभगवान् मे विद्यमान ये गुण चरमसीमा पर पहुँचे हुए है। ऐसे उच्चकोटि के *कल्याण गुण अन्यत्र कही नही मिल सकते।* श्रीभगवान् को अनन्त इसलिये कहा जाता है कि कोई भी उनके गुणो के अन्त तक न पहुच सकता है न जान सकता है न वर्णन कर सकता है नान्त गुणानां गच्छन्ति तेनानन्तोऽयमुच्यते।

सर्वकल्याणगुणनिधि स्वत सिद्ध श्रियःपति भगवान् प्रलय काल मे करण और शरीर से शून्य तथा चेतनाशक्तिहीन जड प्राय जीवो की दुर्दशा को देखकर द्रवितमन शङ्कित होकर करुणा से ब्रह्मा इत्यादि जीवों की सृष्टि करते है उनमे ब्रह्मा जी की सृष्टि स्वय करते है ब्रह्माजी के अन्तर्यामी होकर ब्रह्माजी के द्वारा अन्यान्य जीवो की सृष्टि करते है। सृष्टि मे उनकी करुणा ही प्रधान कारण है। सृष्टि मे जीव देह और इन्द्रिय इत्यादि को प्राप्तकर जब प्राचीन दुर्वासनाओ के अनुसार दुर्मार्ग मे ही चलने लगते है तब उनके अज्ञान को दूर कराने तथा हित और अहित का ज्ञान कराने के लिये श्रीभगवान् पूर्वकल्पस्थित वेदो का उपदेश ब्रह्माजी

को देकर उनके द्वारा जीवो मे वेद आदि शास्त्रो का प्रचार करते हैं, वेद इत्यादि ग्रन्थो को शास्त्र इसलिये कहते है कि उनमे श्रीभगवान् के कल्याणकारी शासन निहित है। उन शासनो के अनुसार चलने पर जीव अवश्य कल्याण का भागी होगा। उन आज्ञाओ का उल्लंघन करने के कारण जीव दण्ड का भागी होता है तथा ससार में पड़कर तापत्रय को भोगता रहता है।

इस प्रकार जो भगवान् ब्रह्मा इत्यादियो की सृष्टि करके उन्हे अपने आज्ञारूपी वेदो का प्रदान करते हैं, प्रपत्ति करने पर साक्षात् अथवा भक्ति के द्वारा प्राप्य होने वाले उन श्रीभगवान् के शरण मे मैं मुमुक्षु जा रहा हूँ ॥५॥

(६)

वृन्दानि यः स्ववशयन् व्रजसुन्दरीणां
वृन्दावनान्तरभुवां सुलभो बभूव ।
श्रीमानशेषजनसग्रहणाय शेते
रङ्गे भुजङ्गशयने स महाभुजङ्गः ॥

पूर्व श्लोक मे श्रीदेशिक स्वामी जी ने भगवच्छरणागति का वर्णन किया है। इस श्लोक मे श्रीभगवान् के सौलभ्य गुण का वर्णन करते हैं। श्रीभगवान् मे सौलभ्य गुण होने के कारण ही हम लोग श्रीभगवान् का आश्रय लेते रहते है। उनमे सौलभ्य गुण न होने पर हम लोगो को उनके आश्रय लेने मे कठिनाई अवश्य होगी। श्रीवैकुण्ठ मे विराजमान श्रीपरवासुदेव भगवान् में केवल परत्व है। अतएव उनका आश्रय लेना हम लोगो से नही बनता। श्रीभगवान् के मर्यादापुरुषोत्तमरूपअवतार श्रीभगवान् रामचन्द्र जी मे तथा मन्दिरो मे विराजमान अर्चावतारो मे सौलभ्यगुण अधिक मात्रा मे विकसित है, अतएव इनका आश्रय लेने मे बिलकुल कठिनाई नही होती। काष्ठाप्राप्त सौलभ्यगुण अर्चावतार मे ही है। उनका आश्रय लेने से कल्याण अवश्य सिद्ध होगा। यह अर्थ इस श्लोक से सूचित होता है।

यो व्रजसुन्दरीणां वृन्दानि स्ववशयन् वृन्दावनान्तरभुवां सुलभो बभूव स श्रीमान् महाभुजङ्गोऽशेषजनसंग्रहणाय रङ्गे भुजङ्गशयने शेते। श्रीमन्नारायण भगवान् ने जीवों की सृष्टि करके उनको वेदों का प्रदान किया था। वेदों को प्राप्त करके भी जीव वेदाज्ञा के अनुसार नहीं चलते थे, ब्रह्मानन्द को भूलकर क्षुद्र विषयानन्द में ही मग्न रहते थे। जीवों की इस दुर्दशा को देखकर श्रीभगवान् ने विचार किया कि जिस प्रकार हाथी के द्वारा ही हाथी पकड़े जाते हैं पक्षियों के द्वारा ही पक्षी पकड़े जाते हैं उसी प्रकार हमको इनका सजातीय बनकर ही इनको पकड़ना चाहिये। तभी कार्य सिद्धि होगी। इस प्रकार विचार कर श्रीभगवान् ने देव तिर्यक और मनुष्य आदि के बीच में उनके सजातीय रूप को धारण कर सुलभ होते हुए उनको आकृष्ट किया। इस सौलभ्य की सीमा पाँच सहस्र वर्ष पूर्व अवतीर्ण श्रीकृष्ण भगवान् में खूब देखने में आती है। श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् ने वृन्दावन में विराजते समय कामुक पुरुष के समान वेष धारणकर विस्तृत वृन्दावनभूमि के मध्य में वहाँ जन्म लेने वाली सभी व्रजसुन्दरियों के समूहों को नाना प्रकार के हावभाव दिखाकर पूर्ण रूप से अपने वश में कर लिया था, इस प्रकार श्रीभगवान् व्रजसुन्दरियों को वश में करके उनके लिये सुलभ बन गये थे इतना ही नहीं किन्तु वृन्दावन के मध्य में उत्पन्न पशु पक्षि गुल्म वृक्ष और लता इत्यादिकों को भी सुलभ बन गये थे उनका उद्धार करते रहे। उस समय जन्म लिये हुए सभी सात्विक प्रवृत्ति के लोगों ने श्रीभगवान् के इस सौलभ्य गुण से खूब लाभ उठाया। परन्तु अस्मदादि अगणित अभागे जीव श्रीकृष्णावतार के समय कहाँ रह गये थे पता नहीं, हम सरीखे मनुष्य तो श्रीकृष्णावतार के समय लाभ नहीं उठा सके। यदि लाभ उठाये हुए होते तो आज जन्म लेना ही नहीं पड़ता। परन्तु श्रीभगवान् ने हम लोगों को नहीं छोड़ा है कामुक भूमिका को धारण करने वाले वे श्रीकृष्णभगवान् ही सम्पूर्ण मनुष्यों के संग्रह करने का संकल्प करके इस श्रीरङ्ग में आदि शेषरूपी शयन पर धरना

देते हुए शयन कर रहे हैं। प्रतीत होता है कि जिस प्रकार धरना देने वाले लोग अपना मनोरथ पूर्ण होने पर ही धरना देने से विरत होते हैं, उसी प्रकार ये श्रीरङ्गनाथ भगवान् भी सब जन्म लेने वाले देहधारी जीवो का उद्धार करके ही उठेगे, जब तक सभी जीवो का उद्धार सपन्न नही होता तब तक इसी रूप मे धरना देते रहेंगे। श्रीकृष्ण भगवान् ही अपनी अवतार लीला के अवसान मे सम्पूर्ण जीवो का सग्रह करने के लिये उत्तर द्वार से श्रीरङ्ग मन्दिर में प्रवेश कर आदि शेष शयन पर शयन कर रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है। ऐसे परमसुलभ अर्चामूर्ति श्रीभगवान् का आश्रय लेकर सब को कल्याणभागी बनना चाहिये ॥६॥

(७)

रङ्गास्तीर्णभुजङ्गपुङ्गववपुःपर्यङ्कवर्यं गतौ
सर्गस्थित्यवसानकेलिरसिकौ तौ दम्पती नः पती।
नाभीपङ्कजशायिनः श्रुतिसुखैरन्योन्यबद्धस्मितौ
डिम्भस्याम्बुजसभवस्य वचनैरोंतत् सवित्यादिभिः॥

पूर्व श्लोक मे श्रीदेशिक स्वामी जी ने श्रीभगवान् के सौलभ्य गुण का वर्णन किया। शरण देने वाले में जिन २ गुणो अत्यावश्यकता है, उनमे सौलभ्य गुण प्रथम है। द्वितीय गुण स्वामित्व है। स्वामी ही दास जनो को शरण देकर रक्षा कर सकते है। उस स्वामित्व गुण का वर्णन इस श्लोक मे कर रहे है।

रङ्गास्तीर्णभुजङ्गपुङ्गववपु पर्यङ्कवर्यं गतौ सर्गस्थित्यवसानकेलिरसिकौ नाभीपङ्कजशायिनोऽम्बुजसभवस्य श्रुतिसुखैरोंतत् सवित्यादिभिर्वचनैरन्योन्यबद्धस्मितौ तौ दम्पती न॰ पती। श्रीभगवान् सब के स्वामी हैं, सभी चेतन और अचेतन उन्ही की वस्तु हैं। सर्वस्वामी श्रीभगवान् जीवो का उद्धार करने के लिये श्रीरङ्ग मे बिछे शेपनाग के दिव्यविग्रहरूपी श्रेष्ठ पर्यङ्क पर शयन कर रहे है। श्रीमान् आदि शेप की श्रीविग्रहरूपिणी शय्या श्रीभगवान् को अपार

आनन्द देती है शेषनाग के विग्रह का नाम ही संस्कृत भाषा में भोग है, यदि यह श्रीभगवान् को भोग सुख का प्रदान करे इसमें क्या आश्चर्य है। शय्या यदि विशाल उन्नत कोमल और सुगन्धयुक्त हो तो वह उत्तम शय्या मानी जाती है। आदिशेषरूपिणी शय्या में ये सब गुण पूर्ण मात्रा में विद्यमान है। इस शय्या के महत्त्व का कहाँ तक वर्णन किया जाय? यह शय्या स्पर्श होते ही सर्वज्ञ भगवान् को भी निद्रा में डाल देती है। इससे इसका प्रभाव जाना जा सकता है। इस प्रकार श्रीलक्ष्मी और श्रीनारायण भगवान् श्रीशेषनागरूपी दिव्यपर्यङ्क के ऊपर विराजमान होकर इस जगत का शासन कर रहे है। यह दिव्यपर्यङ्क ही उनका दिव्य सिंहासन है जो जगत्साम्राज्य का प्रधान प्रतीक माना जाता है जिस प्रकार सिंहासन में विराजने वाले व्यक्ति को देखकर उसको राजा समझने में किसी को देर नहीं लगती उसी प्रकार आदिशेषपर्यङ्करूपी दिव्य सिंहासन में विराजने वाले श्रीमन्नारायण को देखकर किसी को भी उनको सर्वेश्वर समझने में देर नहीं लगती। श्री आदिशेषसूरि अत्यन्त विशाल तथा उन्नत होने के कारण रजतमय पर्वत के समान दिखाई दे रहे है उसके ऊपर विराजने वाले उन्नत श्यामल श्रीभगवान्, पर्वत के ऊपर शयन करने वाले जलभरित मेघ के समान दिखाई दे रहे है यह दर्शन अत्यन्त आकर्षक प्रतीत होता है। अस्तु, यहाँ कहने का भाव यह है कि आदिशेषपर्यङ्करूपी दिव्य सिंहासन पर विराजमान श्रीभगवान् को देखने पर उनका सर्व स्वामित्व स्फुट विदित हो जाता है। दर्शनमात्र से ही उनका स्वामित्व विदित हो जाता हो इतना ही नहीं किंतु उनकी कृति को देखने पर भी उनका स्वामित्व स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। वे क्या करते है? वे धाराप्रवाह रूप से इस सम्पूर्ण जगत की सृष्टि स्थिति और प्रलय करते हैं। इस प्रकार विराट सृष्टि स्थिति और प्रलय करने में उनको अणुमात्र भी क्लेश नहीं होता, यह तो उनकी लीला है। इस लीला में वे रम लेते रहते हैं इस लीला को उनसे छोड़ते नहीं बनता। यह लीला उनका लक्षण बन जाती। तभी तो

श्रुति और ब्रह्मसूत्रकार ने जगत्कारणत्व को ब्रह्म का लक्षण कहा। यह लीला द्यूतक्रीडा के समान रूप को कभी कभी धारण करती है। जिस प्रकार विशाल फलक मे नानाविध कोष्ठको को बनाकर उनमे राजा मन्त्री सेनापति घोडा और हाथी इत्यादि खिलौनो को रखकर द्यूत खेला जाता है, उसी प्रकार प्रकृति के द्वारानिर्मित इस विशालब्रह्माण्डरूपी फलक मे ब्रह्मा इत्यादि देवता आदि के स्थान वाले चौदहभुवनरूपी कोष्ठको मे उन २ जीवो के कर्मानुसार कई जीवो को ब्रह्मा इत्यादि देवताओ के पद मे रखकर श्रीलक्ष्मी जी और श्रीमन्नारायण कर्मफलप्रदानरूपी द्यूत खेल रहे हैं। ब्रह्मा इत्यादि देवतागण खिलौनो के समान परतन्त्र हैं। इस प्रकार ये दोनो दम्पती सर्वदा सृष्टिस्थितिप्रलयरूपी लीला करते रहते हैं। इसे देखने से प्रतीत होता है कि यह चेतनाचेतनमय जगत श्रीभगवान् की वस्तु है, श्रीभगवान् इसके स्वामी हैं। जिस प्रकार खेत मे हल चलाते बीज बोते पानी देते तथा धान काटते रहने वाले किसान को देखकर किसी को भी उस किसान को खेत का स्वामी समझने मे क्लेश नही होता उसी प्रकार इस चेतनाचेतनमय जगत में सर्वदा सृष्टि स्थिति और प्रलय इत्यादि रूप से कुछ न कुछ कार्य करते रहनेवाले इन दिव्य दम्पतियो को देखने पर इनको भी जगत का स्वामी मानने में किसी को क्लेश नही होना चाहिये। इस जगद्व्यापार से इन दिव्य दम्पतियो का स्वामित्व स्फुट विदित हो जाता है।

कई वादी श्रीभगवान् को सर्वस्वामी नही मानते, वे कहते हैं कि श्रीब्रह्माजी और श्री शिवजी श्रीभगवान् के समान हैं, श्रीभगवान् इनके स्वामी नही है, श्रीभगवान् को सर्वस्वामी मानना मिथ्या है इत्यादि। श्रीदेशिक स्वामी जी इस पूर्वपक्ष का समाधान उत्तरार्द्ध से करते है। श्रीदेशिक स्वामी जी कहत हैं कि श्री शिवजी श्रीब्रह्माजी के पुत्र है, यह अर्थ शास्त्रो में वर्णित है। श्रीब्रह्माजी श्रीभगवान् के नाभिकमल से उत्पन्न हुए हैं यह अर्थ भी शास्त्रो मे वर्णित है। इसमें कोई शका उठ ही नही सकती। नीचे श्रीभगवान्

आनन्द देती है, शेषनाग के विग्रह का नाम ही संस्कृत भाषा में भोग है, यदि यह श्रीभगवान् को भोग सुख का प्रदान करे इसमें क्या आश्चर्य है। शय्या यदि विशाल उन्नत कोमल और सुगन्धयुक्त हो तो वह उत्तम शय्या मानी जाती है। आदिशेषरूपिणी शय्या में ये सब गुण पूर्ण मात्रा में विद्यमान है। इस शय्या के महत्त्व का कहाँ तक वर्णन किया जाय ? यह शय्या स्पर्श होते ही सर्वज्ञ भगवान् को भी निद्रा में डाल देती है। इससे इसका प्रभाव जाना जा सकता है। इस प्रकार श्रीलक्ष्मी और श्रीनारायण भगवान् श्रीशेषनागरूपी दिव्यपर्यङ्क के ऊपर विराजमान होकर इस जगत् का शासन कर रहे है। यह दिव्यपर्यङ्क ही उनका दिव्य सिंहासन है जो जगत्साम्राज्य का प्रधान प्रतीक माना जाता है जिस प्रकार सिंहासन में विराजने वाले व्यक्ति को देखकर उसको राजा समझने में किसी को देर नहीं लगती उसी प्रकार आदिशेषपर्यङ्करूपी दिव्य सिंहासन में विराजने वाले श्रीमन्नारायण को देखकर किसी को भी उनको सर्वेश्वर समझने में देर नहीं लगती। श्री आदिशेषसूरि अत्यन्त विशाल तथा उन्नत होने के कारण रजतमय पर्वत के समान दिखाई दे रहे है उसके ऊपर विराजने वाले उन्नत श्यामल श्रीभगवान्, पर्वत के ऊपर शयन करने वाले जलभरित मेघ के समान दिखाई दे रहे है यह दर्शन अत्यन्त आकर्षक प्रतीत होता है। अस्तु, यहाँ कहने का भाव यह है कि आदिशेषपर्यङ्करूपी दिव्य सिंहासन पर विराजमान श्रीभगवान् को देखने पर उनका सर्व स्वामित्व स्फुट विदित हो जाता है। दर्शनमात्र से ही उनका स्वामित्व विदित हो जाता हो इतना ही नहीं किंतु उनकी कृति को देखने पर भी उनका स्वामित्व स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। वे क्या करते है ? वे धाराप्रवाह रूप से इस सम्पूर्ण जगत की सृष्टि स्थिति और प्रलय करते हैं। इस प्रकार विराट सृष्टि स्थिति और प्रलय करने में उनको अणुमात्र भी क्लेश नहीं होता यह तो उनकी लीला है। इस लीला में वे रस लेते रहते है, इस लीला को उनसे छोड़ते नहीं बनता। यह लीला उनका लक्षण बन जाती। तभी तो

श्रुति और ब्रह्मसूत्रकार ने जगत्कारणत्व को ब्रह्म का लक्षण कहा। यह लीला द्यूतक्रीडा के समान रूप को कभी कभी धारण करती है। जिस प्रकार विशाल फलक मे नानाविध कोष्ठको को बनाकर उनमे राजा मन्त्री सेनापति घोडा और हाथी इत्यादि खिलौनो को रखकर द्यूत खेला जाता है, उसी प्रकार प्रकृति के द्वारानिर्मित इस विशालब्रह्माण्डरूपी फलक मे ब्रह्मा इत्यादि देवता आदि के स्थान वाले चौदहभुवनरूपी कोष्ठको मे उन २ जीवो के कर्मानुसार कई जीवो को ब्रह्मा इत्यादि देवताओ के पद मे रखकर श्रीलक्ष्मी जी और श्रीमन्नारायण कर्मफलप्रदानरूपी द्यूत खेल रहे है। ब्रह्मा इत्यादि देवतागण खिलौनो के समान परतन्त्र हैं। इस प्रकार ये दोनों दम्पती सर्वदा सृष्टिस्थितिप्रलयरूपी लीला करते रहते है। इसे देखने से प्रतीत होता है कि यह चेतनाचेतनमय जगत श्रीभगवान् की वस्तु है, श्रीभगवान् इसके स्वामी हैं। जिस प्रकार खेत मे हल चलाते बीज बोते पानी देते तथा धान काटते रहने वाले किसान को देखकर किसी को भी उस किसान को खेत का स्वामी समझने मे क्लेश नही होता उसी प्रकार इस चेतनाचेतनमय जगत मे सर्वदा सृष्टि स्थिति और प्रलय इत्यादि रूप से कुछ न कुछ कार्य करते रहनेवाले इन दिव्य दम्पतियो को देखने पर इनको भी जगत का स्वामी मानने में किसी को क्लेश नही होना चाहिये। इस जगद्व्यापार से इन दिव्य दम्पतियो का स्वामित्व स्फुट विदित हो जाता है।

कई वादी श्रीभगवान् को सर्वस्वामी नही मानते, वे कहते हैं कि श्रीब्रह्माजी और श्री शिवजी श्रीभगवान् के समान हैं, श्रीभगवान् इनके स्वामी नही है, श्रीभगवान् को सर्वस्वामी मानना मिथ्या है इत्यादि। श्रीदेशिक स्वामी जी इस पूर्वपक्ष का समाधान उत्तरार्द्ध से करते है। श्रीदेशिक स्वामी जी कहत हैं कि श्री शिवजी श्रीब्रह्माजी के पुत्र हैं, यह अर्थ शास्त्रो मे वर्णित है। श्रीब्रह्माजी श्रीभगवान् के नाभिकमल से उत्पन्न हुए हैं यह अर्थ भी शास्त्रो मे वर्णित है। इसमें कोई शका उठ ही नही सकती। नीचे श्रीभगवान्

और महालक्ष्मी जी आदि शेषपयङ्क पर शयन करते रहते हैं। श्रीभगवान् का नाभिकमल ऊपर है उसमे उत्पन्न ब्रह्माजी शिशु के रूप मे शयन करते रहते है उनके मुखों से ॐ सत् सत् इत्यादि वेदमन्त्र निकलते रहते हैं, उस वेदध्वनि को सुनकर श्रीलक्ष्मी नारायणरूपी दिव्यदम्पति उसी प्रकार मन्दस्मित करते रहते है जिस प्रकार बच्चों के अव्यक्त शब्दो को सुनकर मातापिता हसते हैं। इस कथानक से सिद्ध होता है कि श्रीलक्ष्मीनारायण मातापिता हैं श्रीब्रह्माजी पुत्र है। पुत्र पिता का माना जाता है। श्रीब्रह्मा जी के द्वारा श्रीशकर जी से लेकर सपूर्ण जगत की सृष्टि हुई है। इससे सिद्ध होता है कि श्रीब्रह्मा जी और श्रीशकर जी श्रीभगवान् के समान नही हो सकते है किंतु पुत्र और पौत्र होने के कारण वे श्रीभगवान् के हैं श्रीभगवान् ही सर्वस्वामी हैं। यह अर्थ श्रीरङ्गनाथ भगवान् के नाभिकमल मे स्थित ब्रह्माजी को देखने पर स्पष्ट विदित होता है। इस प्रकार आदिशेषरूपी दिव्य सिंहासन मे विराजने, सृष्टि स्थिति प्रलयरूपी लीला करते रहने तथा नाभीकमल मे श्रीब्रह्माजी को उत्पन्न करने के द्वारा श्रीरङ्गनाथ भगवान् अपने स्वामित्व को स्पष्ट विदित करा रहे हैं। उनके सर्वस्वामित्व पर किसी को सन्देह नही करना चाहिये श्रीभगवान् सब के स्वामी हैं तथा श्रीमहालक्ष्मी जी सब की स्वामिनी है। अतएव शास्त्र मे कहा गया है कि—

अस्या मम च शेष हि विभूतिरुभयात्मिका। अर्थात् श्रीभगवान् कहते है कि लीलाविभूति और भोगविभूति ये दोनो विभूतियाँ मेरी तथा श्रीमहालक्ष्मी जी की भी शेष हैं, अर्थात् हम दोनो की वस्तु हैं। पञ्चसक्षप मे श्रीराम मिश्र स्वामी जी ने कहा है कि उभयाधिष्ठान चक शेषित्वम् अर्थात् एक ही स्वामित्व श्रीलक्ष्मीजी और श्रीभगवान् मे प्रतिष्ठित है। कहने का भाव यह है कि इन दोनो मे अलग २ स्वामित्व नही रहता किंतु एक ही स्वामित्व इन दोनो मे रहता है इससे फलित होता है कि यह विश्व इन दोनो की साझे की वस्तु है।

सर्वस्वामी होने के कारण ये दोनो दिव्यदम्पति जीवो के उद्धार को अपना कर्तव्य समझते है, क्योकि दासजनो का उद्धार स्वामी की कर्तव्य कोटि मे आ जाता है। किंच, ये दोनो स्वामी होने के कारण जीवो की प्राप्ति को अपना लाभ समझकर उद्धार मे सदा दत्तचित्त रहते है। खोए हुए जीवो की प्राप्ति वास्तव मे दिव्य दम्पतियो का लाभ ही है।

इस प्रकार सर्वस्वामित्व को प्रकट करने वाले श्रीभगवान् के शरण मे सब कल्याण कामियो को जाना चाहिये ॥७॥

(८)

घनकरुणारसौघभरितां परितापहरां
नयनमहश्छटां मयि तरङ्गय रङ्गपते ।
दुरितहुताशनस्फुरितदुर्दमदुःखमषी—
मलिनितविश्वसौधदुरपह्नववर्णसुधाम् ॥

पूर्व श्लोक मे श्रीदेशिक स्वामी जी ने श्रीभगवान् के स्वामित्व का वर्णन किया है। इस श्लोक मे श्रीभगवान् की दया का वर्णन करते हुए अपने ऊपर कृप दृष्टि डालने के लिये श्रीभगवान् से प्रार्थना करते है। श्रीभगवान् के सभी कल्याणगुण जीवो को कल्याणकारी हैं। उनमे ज्ञान, शक्ति और करुणा प्रधान माने जाते है। उनमे भी करुणा अत्यन्त श्रेष्ठ है। श्रीभगवान् का स्वामित्व, ज्ञान और शक्ति ये गुण निग्रह तथा अनुग्रह मे भी काम आते है। उनसे अनुग्रह ही होता हो सो बात नही, उनसे निग्रह भी हो जाता है। श्रीभगवान् स्वामी होने के कारण जीवो को ससार में भी रख सकते है, और परम पद मे भी तथा श्रीभगवान् सर्वज्ञ एव सर्वशक्ति सपन्न होने के कारण जीवो के दुष्कर्मो के अनुसार उन २ अनिष्टो को जानकर जीवो को भुगा सकते है तथा जीवो के शुभकर्मो के अनुसार उन २ इष्टो को जानकर जीवो को भुगा सकते है। इस प्रकार श्रीभगवान् का स्वामित्व, ज्ञान और शक्ति ये गुण जीवो को

संसार मे रखने में सहायक होते हैं, तथा परमपद में रखने में भी सहायक होते हैं। अतएव वे निग्रह और अनुग्रह के साधारण कारण माने जाते है। श्रीभगवान् की करुणा अर्थात् दया तथा उसके विस्ताररूप सौशील्य वात्सल्य क्षमा सौहार्द औदार्य इत्यादि गुण जीवों पर अनुग्रह करने में ही सहायक होते हैं। अतएव श्रीभगवान् की दया सर्वदा अनुग्रहपरायण कहलाती है इसलिये इस गुण की महत्ता बढ जाती है। इस मर्म को बतलाने के लिये श्रीवेदान्तदेशिक स्वामीजी ने दयाशतक म दया की विशेषताओं का वर्णन करते हुए सौ श्लोको से एक दया गुण की स्तुति की। इस श्लोक में श्रीदेशिक स्वामी जी शरणागति को गुप्त प्रकार से स्पष्ट कराने के लिये श्रीभगवान से दयादृष्टि की भिक्षा माग रहे है।

घनकरुणारसौघभरितो परितापहरो दुरितहुताशनस्फुरितबुद्बुद दुःखचयौमलिनितविग्रहौघकुरङ्गकबर्णकुधा अपनमहद्रुहा है रङ्गपते मयि तरङ्गय। हे श्रीरङ्गनाथ भगवन्? आप मेरे ऊपर कृपादृष्टि कीजिये। आपके दिव्य नेत्रों से तेज की छटा प्रवाह की तरह निकल रही है, उसकी गति मेरी ओर कृपया मोड दीजिये। मेरी इच्छा है कि नेत्रों की कान्ति छटा मेरे ऊपर लहर मारती रहे प्रति क्षण अधिकाधिक रूप मे वह छटा यदि मेरे ऊपर पडती रहेगी, तो मुझको छोडकर दूसरा गन्तव्य स्थान न मिलने के कारण मेरे ऊपर लहराती रहेगी। ऐसा होना मेरे लिये अत्यन्त अभीष्ट है। तदर्थ मै लालायित रहता हूँ। आप श्रीरङ्ग के स्वामी है अतएव रङ्गपति कहलाते है रङ्गपति को इस कान्तिछटा को तरंगित करने मे क्या कठिनाई है आप तो अनायास इसे तरङ्गित कर सकते है उससे इस जीव का कल्याण हो जायगा। आपके इन नेत्रों से निकलने वाली कान्ति के समूह की महिमा को मैं जानता हूँ। अतएव ऐसी भावना करता हूँ। यह कान्तिसमूह ऐसा है कि इसमे करुणा रूपी निमल जल का घनप्रवाह उमडकर बहता जाता है उस करुणा रसप्रवाह से सर्वदा यह कान्तिसमूह भरपूर है आपकी नेत्रकान्ति सर्वदा करुणारस से आप्लावित रहती है जिस प्रकार चन्द्रमा की

ज्योत्स्ना शीतता से व्याप्त है, उसी प्रकार आपकी नेत्रकान्ति करुणारस से व्याप्त है, जिस प्रकार नदीप्रवाह अथवा ज्योत्स्ना सूर्य से उत्पन्न ताप को नष्ट करती है उसी प्रकार आपकी नेत्रकान्ति का यह समूह भी चारो तरफ बढने वाले आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक इन त्रिविध तापो को समूल नष्ट कर देता है। यह तापत्रय दूसरे किसी के द्वारा नष्ट होने वाला नही है, आपकी कृपादृष्टि की वर्षा से ही नष्ट हो सकता है अतएव मैं तदर्थ प्रार्थना करता हूँ।

किच, हे श्रीभगवन्! आपकी कृपादृष्टि का प्रभाव अपार है। उसके पडने पर ही यह विश्व उज्ज्वल बन जाता है। यह विश्व मानो प्रासाद है। मान लिया जाय कि प्रासाद मे अग्नि जलती रहती है, उससे निबिड धूम निरन्तर निकलता रहता है, उससे वह प्रासाद अपनी सहज उज्ज्वलता खोकर अवश्य मलिन हो जायगा, काला हो जायगा, इसमे सन्देह नही। वैसे ही इस विश्व में पापरूपी अग्नि निरन्तर जलती रहती है क्योकि मनुष्यो मे पाप करने वाले ही अधिक है, धर्म करने वाले विरल है। पापरूपी अग्नि के निरन्तर जलते रहने के कारण इस विश्वप्रासाद में दु खरूपी धूम भर जाता है। जिस प्रकार अग्नि से धूम निकलना अवश्यभावी है उसी प्रकार पाप से दु ख उत्पन्न होना भी अवश्यभावी है, यह टाला नही जा सकता। पाप परिपक्व होते ही दु ख फूट निकलेगा, दु ख को दबाना अथवा रोकना असमव है। इस प्रकार दु खरूपी धूम से यह विश्व-प्रासाद अत्यन्त मलिन हो गया है। जिस प्रकार उस प्रासाद मे प्रत्येक भाग अपनी उज्ज्वलता को खोकर मलिन बन जाता है उसी प्रकार इस विश्व मे प्रत्येक जीव इस दु ख के कारण अपने सहज स्वरूप को खोकर अथवा भूलकर देहात्माभिमान इत्यादि के कारण मलिन हो जाता है। वह मलिन प्रासाद सुधा के अर्थात् चूने के लेप से उज्ज्वल हो जाता है, धूम की कालिमा सुधा की उज्ज्वलता को दबा नही सकती, किंतु सुधा की उज्ज्वलता ही धूम की कालिमा को दबाकर अथवा नष्ट कर उस प्रासाद को उज्ज्वल

बना देती है। उस प्रासाद का प्रत्येक भाग अपनी स्वाभाविक उज्ज्वलता को प्राप्तकर दर्शनीय बन जाता है उसी प्रकार पापाग्नि से उत्पन्न दु:खधूम से व्याप्त इस विश्वप्रासाद को उज्ज्वल करने वाली यदि कोई वर्णसुधा है तो वह आपकी कृपादृष्टि का प्रवाह ही है दूसरी कोई नहीं। आपकी कृपादृष्टि पड़ते ही इस विश्वप्रासाद का सपूर्ण दु:खधूम नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार अधकार सूर्य प्रकाश को दबा नहीं सकता उसी प्रकार चिरकाल से जीवों पर अधिकार करने वाले ये दुःख भी आपकी कृपादृष्टि को दबा नहीं सकते, किंतु कृपादृष्टि के समक्ष उनको दबना पड़ता है यहाँ तक कि उनको नष्ट होना पड़ता है। इस प्रकार आपकी कृपादृष्टि सपूर्ण दुःखों को नष्ट कर इस विश्वप्रासाद को उज्ज्वल कर सकती है उसका इतना प्रभाव है। आपकी कृपादृष्टि पड़ते ही इस विश्व में रहने वाला प्रत्येक जीव अपने इस विकृत रूप को छोड़कर सहज स्वरूप को प्राप्त कर उज्ज्वल बन जायगा। कई बन भी गये हैं। इसके प्रभाव को मैं पूर्णरूप से समझता हूँ। अतएव आप से प्रार्थना करता हूँ कि हे श्रीभगवन्! आप दिव्यनेत्रों के विमल तेज के प्रवाह को जो करुणारस से ओत प्रोत है, मेरे ऊपर प्रवाहित कीजिये ॥८॥

(९)

दुर्मोचोद्भटकर्मकोटिघटितोऽप्यादेशवश्य कुतो
वाह्यैर्नैव विमोहितोऽस्मि कुदृशां पक्षैर विक्षोभित ।
यो माहानसिको महान् यतिपतेर्नीतश्च तस्यैश्चभाव
आघार्मीमिति रङ्गधुर्य मयि ते स्वल्पावशिष्टो भर ॥

इसके पूर्व तीन श्लोकों से श्रीवैधिक स्वामी जी ने श्रीभगवान् के सौलभ्य स्वामित्व और कारुण्य गुण का वर्णन किया है। ये गुण नारायण शब्दार्थ के अन्तर्गत हैं। इस श्लोक से श्रीवैधिक स्वामी जी कहते हैं कि उपर्युक्त कल्याणगुणों से सपन्न श्रीभगवान् ने मेरे विषय में ऐसे २ उपकार किये हैं जो दूसरों के लिये सर्वथा

असाध्य हैं। श्रीदेशिक स्वामी जी इस श्लोक मे उन उपकारो का वर्णन करते हुए श्रीभगवान् से प्रार्थना करते हैं कि श्रीरङ्गनाथ भगवन् ! आपने मेरे विषय में उच्चकोटि के महान् उपकार किये हैं, अब थोडी ही कसर रह गयी है, उसको भी पूरा करके आप मेरा उद्धार करदे।

दुर्मोचोद्भूटकर्मकोटिघटितोऽप्यादेशवश्य कृत । हे श्रीभगवन् ! आपने अब तक मेरे विषय मे असख्य उपकार किये हैं। उनमे कई उपकारो को मैने जाना ही नही। कई उपकारो को जानकर भी उत्तरकाल में भूल गया। जिन प्रधान उपकारो को भूल ही नही सकता, उन महान् उपकारो का दिग्दर्शनमात्र यहाँ कराता हूँ। हे प्रभो ! मैं अनादिकाल से पापकर्मों का अर्जन करता आ रहा हूँ उन पापकर्मों ने मुझे ऐसा कसकर बाँध लिया है कि उनसे छूटना सर्वथा अशक्य है। वे कर्म अत्यन्त बलवान है, तथा आगे २ बढते ही जा रहे है उनका घटना असभावित है। ऐसे कर्म एक दो नही अपरिमित हैं। वे कर्म मुझे कसकर बाँधकर ससार-मार्ग मे ले जारहे है। मैं कर्मप्रवाह में ऐसा बह रहा हूँ जैसा भयकर महानदीप्रवाह में कोई दुर्बल प्राणी बहता हो। भयकर नदी प्रवाह मे बहने वाले मनुष्य के प्रति यदि कहा जाय 'तुम वही खडे रहो अन्यथा मारे जाओगे' वह मनुष्य इच्छा रहने पर भी उस आज्ञा का पालन नही कर सकता क्योंकि उस प्रवाह के वेग में उसे बहना ही पडता है। वैसे ही कर्मप्रवाह मे बहने वाला मैं भी इस आज्ञा का पालन नही कर सकता क्योकि उस प्रवाह के वेग में मुझे बहना ही पडता है कर्मप्रवाह मे बहने वाला मैं आपकी शास्त्राज्ञा का पालन करने मे असमर्थ रह गया। ऐसे अनेक जन्म मुझे बीत गये। मैं उन जन्मो में आपकी आज्ञा का पालन नही करता था शास्त्र ही आपकी आज्ञा है। मैं उन जन्मो में शास्त्र की अवहेलना ही करता था। बुद्धि कर्मानुसारिणी इस कहावत के अनुसार प्राचीन कर्मों के अनुसार ही मैं सोचता तथा करता था। किंच मै तिर्यक् और स्थावर योनियो

में जब जन्म लेता था तब आपकी आज्ञा को सुनने और समझने में सर्वथा असमर्थ रहा, मानना और पालन करना तो दूर की बात है। आपकी आज्ञा को सुनने एवं समझने मे समर्थ मनुष्य योनि में आने पर भी मै अनेक जन्मो मे आपकी आज्ञा की अवहेलना करता रह गया, उन जन्मों मे कर्म मुझे जिधर लेजायें उधर मैं जाता रहा, कर्म जो करावे सो मैं करता रह गया। अब उस अतीत का स्मरण करने पर मुझे दुःख होता है। इस प्रकार प्रबल कर्मपाशों से बँधे हुए हमको आपने आज्ञाकारी बनाया। जो मै पहले वेद आदि शास्त्रों का जो आपकी आज्ञारूप हैं अवहेलन करता था वही मैं आपके शुभसंकल्प के कारण शास्त्रों को परम प्रमाण मानने वाला तथा तदनुसार चलने वाला बन गया हूँ। यह आपके शुभ संकल्प का ही प्रभाव है। मुझे इस स्थिति मे पहुँचाने के लिये आपको जो कुछ करना पडा उसे आप ही जान सकते है। मुझ मे उसे समझने की योग्यता कहाँ? प्रबल रस्सियों मे बँधे हुए मनुष्य से यदि कोई कहे कि दौडो दौडो तो यह आदेश व्यर्थ ही होगा। इसमे सन्देह नही। यदि रज्जुबद्ध मनुष्य के द्वारा भी अपनी आज्ञा का पालन कोई करा सके तो अवश्य उस आज्ञादाता का प्रभाव लोकोत्तर होगा। इसमे सन्देह नही। वैसे ही कर्मपाशो से बद्धहमको आपने आज्ञापालक बनाया, यह भी एक आश्चर्य की वस्तु ही है। यह आपका प्रथम उपकार है जो दूसरो से सर्वथा असाध्य है। अब द्वितीय उपकार सुनिये।

बाह्यैर्न विमोहितोऽस्मि आपने कृपा करके मुझे वेदबाह्य वादियों के चुंगल से बचाया जिससे वे मुझे फँसा नही सके। वेदो को प्रमाण न मानने वाले वादो वेदबाह्य कहलाते हैं क्योंकि वे वेदो के बाहर रहते है। चार्वाक बौद्ध और जैन वेदबाह्य हैं ये वेदों को प्रमाण नही मानते। इनके वाद कपट युक्तियों से पूर्ण है उनकी युक्तियो के थोथेपन को न जानने वाले साधारण मनुष्य उनके वादों को सुनकर उनके सिद्धान्तो को समीचीन मान कर उनमे फँस जाते है। मै उनके वादो से मोहित नही हुआ

का कपोलकल्पित ग्रंथ करते हैं। इनके पक्षों से भी मैं विचलित नहीं हुआ हूँ, यदि विचलित हुआ होता तो मेरा भी आत्मनाश निश्चित था। मनु महाराज ने क्या ही अच्छा कहा है कि—

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥

अर्थात् जो वेदबाह्य स्मृति ग्रंथ है तथा कुदृष्टि ग्रंथ हैं वे सब निष्फल हैं मरने के बाद कुछ भी सुफल नहीं दे सकते क्योंकि वे नरक पहुँचाने वाले हैं अथवा तमोगुण पर आधारित हैं तमोगुण प्रसूत होने के कारण उन ग्रंथों में भ्रान्त धारणाओं की ही भरमार है। अतएव उनसे किसी का भी कल्याण नहीं होता। मैं कुदृष्टियों के पक्षों से विचलित नहीं हुआ हूँ यह मेरे हाथ की बात नहीं, मुझ में उतनी शक्ति कहाँ। यह भी आप की ही कृति है आपने कृपा करके मुझे उनके पक्षों से विचलित होने नहीं दिया यह आपका महान् उपकार है। आपने इतने ही उपकार नहीं किये किन्तु आगे भी एक विलक्षण उपकार किया है। उसे बतलाता हूँ। सुनिये—

यो यतिपतेमहान् माहानसिक तत्पोऽस्माभाचामनह मोक्ष इति हे रङ्गधुर्य मयि ते भर' स्वल्पावशिष्ट—हे श्रीरङ्गनाथ भगवन् यतिराज श्रीभाष्यकार स्वामी जी के एक रसोइया थे उनका नाम 'प्रणतार्तिहर स्वामी जी' है। वे रसोई बना करके प्रति दिन श्रीभाष्यकार जी को भिक्षा देते थे। यहाँ पर श्री गुरुपरम्परा प्रभाव में वर्णित यह चरित ध्यान देने योग्य है। श्रीभाष्यकार स्वामी जी जब श्रीरङ्ग में विराजते थे उस समय कई दुष्टों के द्वारा बहकाये हुए एक गृहस्थ ने भिक्षाप्रसंग में श्रीभाष्यकार स्वामी जी की झोली मे विषमिश्रत भिक्षा डाल दी। श्री भाष्यकार स्वामी जी ने उसे फेंक दिया। एक काक उसे खाकर तुरन्त मर गया। श्रीभाष्यकार स्वामी जी उसी दिन से उपवास करने लगे। यह वृत्तान्त बिजली की तरह चारों तरफ फैल गया इस वृत्तान्त को सुनकर श्रीगोष्ठीपूर्ण स्वामी जी तथा महापूर्ण स्वामी जी गोष्ठीपुर

से श्रीरङ्ग आये। श्रीरामानुजाचार्य उन आचार्यो के शुभागमन को सुनकर अगवानी करनेके लिये चल पडे। इधर से श्रीरामानुज स्वामी जी चले थे, उधर से वे दोनो आचार्य आये, दक्षिण कावेरी के मध्य मे सम्मिलन हुआ। श्रीरामानुज स्वामी जी ने दो चार वार श्रीमहापूर्ण स्वामी जी को साष्टाग प्रणाम किया श्रीमहापूर्ण स्वामी जी ने आगे प्रणाम करने से रोक दिया। वाद श्रीरामानुज स्वामी जी श्रीगोष्ठीपूर्ण स्वामी जी को प्रणाम करने लगे। दस वीस वार साष्टाग करने पर भी श्री गोष्ठीपूर्ण स्वामी जी ने श्रीरामानुज स्वामी जी को विरत होने के लिये नही कहा। मध्यान्ह का समय है, रेतीली भूमि है कडी धूप है श्रीरामानुज स्वामी जी साष्टाग प्रणाम करते ही रहे। श्रीगोष्ठीपूर्ण स्वामी जी से कुछ कहने के लिये किसी को भी साहस न हुआ। उस समय श्रीरामानुज स्वामी जी के क्लेश को देखकर नही सहते हुए एक महानुभाव शिष्यमण्डली को चीरकर दौड कर आये। श्रीरामानुज स्वामी जी को वाहुवन्धन मे लेकर उन महानुभाव ने श्रीगोष्ठीपूर्ण स्वामी जी से कहा कि आप क्या इनको जीवित रखना नही चाहते हैं। ये तो सात दिन से उपवास कर रहे है अतएव वहुत कृशित हो गये हैं इस वडे धूप मे इस वालुका मे आप को वारम्वार प्रणाम करते हुए थकते जा रहे है, इस दुर्दशा मे भी आपका हृदय पसीजता नही क्या यही आचार्यधर्म है? उत्तर में श्रीगोष्ठीपूर्ण स्वामी ने कहा कि हम इनको सौ वर्ष से अधिक जीवित रखना चाहते हैं, हमारा हृदय पहले से ही पसीज गया है, अतएव उस वृत्तान्त को सुनकर श्रीगोष्ठीपुर मे दौडकर आरहे हैं, हम इस शिष्यमण्डली मे आपको ढूंढते थे। श्रीभाष्यकार स्वामी जी के श्रीविग्रह पर विशेष प्रेम करने वाले आप मिल गये हैं। आज से आप ही इनको भिक्षा दें। इनको सात घरो मे जाकर भिक्षा लेने की आवश्यकता नही। कलि इतना वढ गया है कि गृहस्थ सन्यासी को भी विषमिश्र भिक्षा देने लग गये हैं। इस कलिकाल मे सन्यासी को ऐसे ही व्यक्ति के यहां भिक्षा लेना चाहिये जो सन्यासी के शरीर में विशेष

श्रद्धा रखते हों। इसलिये सब सोच विचार कर हम आदेश देते हैं कि श्रीरामानुज स्वामी जी को आप ही भिक्षा दें तथा श्रीरामानुज स्वामी जी आप से ही भिक्षा लें। इस प्रकार श्रीगोष्ठीपूर्ण स्वामी जी ने व्यवस्था दी। वे महानुभाव श्रीप्रणतार्तिहर स्वामी जी ही हैं। उसी दिन से श्रीप्रणतार्तिहर स्वामी जी श्रीभाष्यकार स्वामी को भिक्षा देने लगे। श्रीप्रणतार्तिहर स्वामी जी ज्ञान वैराग्य भक्ति और अनुष्ठान में अद्वितीय थे। "वेदान्तोदयन" ऐसा उनका विरुद है। न्यायशास्त्र में श्रीउदयनाचार्य का जो स्थान है, वही स्थान इनका वेदान्त शास्त्र में है। इनका दूसरा नाम श्रीकृष्णाचार्य है। इन्होंने श्रीभाष्यकार स्वामी जी के सन्निधि में बारह बार वेदान्त शास्त्र का अध्ययन किया है। इनके प्रपौत्र अर्थात् पौत्र के पुत्र ही श्री आत्रेय रामानुजाचार्य स्वामी जी हैं। इनका 'वादि हंसाम्बुवाह' ऐसा विरुद प्रसिद्ध है। जिस प्रकार मेघ हंसों को भगाता है, उसी प्रकार ये शास्त्रार्थ में परवादियों को भगाते थे। अतएव इनको "वादिहंसाम्बुवाह" ऐसा विरुद प्राप्त हुआ। श्रीआत्रेयरामानुजाचार्य स्वामी जी भी ज्ञान वैराग्य भक्ति और अनुष्ठान के भण्डार थे। श्रीदेशिक स्वामी जी श्रीरङ्गनाथ भगवान् से कहते हैं कि हे श्री भगवन्! आपने कृपा करके श्रीप्रणतार्तिहर स्वामी जी के प्रपौत्र श्रीआत्रेय रामानुजाचार्य स्वामी जी के सन्निधि में मुझे पहुँचा दिया। वे मेरे आचार्य हैं मैं उनका शिष्य हूँ, इस दिव्य सम्बन्ध के कर्ताधर्ता सब कुछ आप ही हैं, आचार्य के अनुग्रह से मुझे सब कुछ मिल गया। यह सब आपकी कृपा का फल है। मेरे विषय में आपका कर्तव्य भार स्वल्प ही रह गया है मुझे इस शरीररूपी कारागृह से निकालकर अर्चिरादि मार्ग से परमपद लेजाकर स्वरूपाविर्भावपूर्वक कैङ्कर्य साम्राज्य में अभिषिक्त करना ही बाकी रह गया है इसे भी आप ही पूर्ण कीजिये। आपने इतने महान् उपकार किये हैं, बचे हुए भाग को भी पूर्ण कर दोगे ऐसा मेरा अटल विश्वास है। यह कहावत प्रसिद्ध है कि विक्रीते करिणि किमङ्कुशे विवादः अर्थात् हाथी के बिक जाने पर अङ्कुश

बह्मयादेरनपेक्षणात् तनुभृतां कन्यादिवद् व्यापिनी शरणागति की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें सब का अधिकार है। सभी जीव शरणागति कर सकते हैं। भक्तियोग में यह बात नहीं। उप-निषदों में जो ब्रह्मविद्यायें कही गई हैं, वे भक्तियोग कहलाती हैं। उन ब्रह्मविद्याओं में त्रैवर्णिक मनुष्य (ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य) और देवताओं का ही अधिकार है। ये ही उन ब्रह्मविद्याओं का अनुष्ठान कर सकते हैं। यह अर्थ ब्रह्मसूत्रों में अपशूद्राधिकरण और देवताधिकरण में वर्णित है। इसका कारण यह है कि उपनिषदों के द्वारा ब्रह्म को जानकर उन ब्रह्मविद्याओं का अनुष्ठान करना होगा। शूद्रों को उपनिषदों के द्वारा ब्रह्मज्ञान हो नहीं सकता क्योंकि उनको वेदाध्ययन निषिद्ध है। वेदाध्ययन का अंग उपनयन है तीनों वर्णों को ही उपनयन विहित है शूद्रों को उपनयन विहित नहीं है। उपनयन न होने कारण भी शूद्रों को वेदाध्ययन में अधिकार नहीं है, शूद्र न वेद का ही अध्ययन कर सकते हैं, न वेदान्त उपनिषद का ही। उपनिषदों के द्वारा ब्रह्मज्ञान उन्हें प्राप्त नहीं होता। उपनिषदों के द्वारा ब्रह्मज्ञान न मिलने के कारण शूद्रों का ब्रह्मविद्याओं में अधिकार नहीं माना जाता। शूद्रों को ब्रह्मविद्याओं में अधिकार न होने में दूसरा कारण यह भी है कि उपनिषद्वर्णित ब्रह्मविद्या अर्थात् भक्तियोग याग आदि कर्मो

को ही नष्ट करता है साध्यभक्ति अर्थात् प्रपत्तियोग प्रारब्ध को भी नष्ट करता है। श्रीभगवन् ! आपके श्री चरणों मे प्रपत्ति करने वाले साधक दो प्रकार के है (१) आर्तप्रपन्न और (२) हप्तप्रपन्न। आर्तप्रपन्न उनको कहते है जो इस शरीर के रहते प्राप्त होने वाले श्री ब्रह्मा जी के ऐश्वर्य को भी परिपूर्ण भगवदनुभव का विरोधी समझ कर त्याग देते हैं तथा वर्तमान शरीरसम्बन्ध को महाग्नि के समान दुःसह मानते हुए शरणागति के अनन्तर क्षण मे ही मोक्ष चाहते है शरणागति सपन्न होने पर श्रीभगवत्प्राप्ति में क्षणमात्र का विलम्ब भी नही सह सकते हैं ऐसे उच्चकोटि के प्रपन्न ही आर्तप्रपन्न कहलाते हैं। शरणागति इन आर्तप्रपन्नों को उसी क्षण फल दे देती है, अनन्तर क्षण से लेकर भोगने के लिये जितने प्रारब्ध रह गये हैं उन सब प्रारब्धों को भी नष्ट कर तुरन्त फल दे देती है। यह योग्यता शरणागति को छोड़ कर दूसरे किसी साधन मे है नही।

तदब्धिविषयेऽप्युच्छिन्नदेहान्तरा — हप्तप्रपन्न दूसरी कोटि के शरणागत है। हप्तप्रपन्न उन्हें कहते है जो दूसरे जन्म लेना नही चाहते है किन्तु इस शरीर का अवसान होते ही मोक्ष चाहते है। वे प्रपन्न इस शरीर के अन्त में मोक्ष को अवश्यम्भावी मानकर प्रसन्न रहते है। शरणागति इन हप्त प्रपन्नों के जन्मान्तर देने वाले प्रारब्धों को भी नष्ट कर इस शरीर के अवसान मे मोक्ष दे देती है प्रारब्ध का यह नियम नही है कि वह एक ही जन्म दे प्रारब्ध अनेक जन्म भी दे सकते हैं। उन जन्मान्तरो को देने वाले प्रारब्धो को भी शरणागति नष्ट कर देती है। हप्त प्रपन्नो के विषय मे यह व्यवस्था है। चाहे आर्तप्रपत्ति हो चाहे हप्तप्रपत्ति हो दोनों ही प्रपत्तियाँ प्रारब्ध को भी नष्ट कर देती है आर्तप्रपत्ति अनन्तर क्षण से लेकर फल देने में तत्पर संपूर्ण प्रारब्ध को नष्ट कर देती है हप्तप्रपत्ति दूसरे जन्मों को देनेवाले प्रारब्धो को नष्ट कर देती है। प्रारब्ध को नष्ट करने की क्षमता प्रपत्ति मे ही है भक्ति में नही। यह प्रपत्ति की असाधारण विशेषता है।

वह्न्याद्यादेरनपेक्षणात् तनुभृता सत्यादिवद् व्यापिनी शरणागति की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें सब का अधिकार है। सभी जीव शरणागति कर सकते हैं। भक्तियोग मे यह बात नही। उपनिषदो मे जो ब्रह्मविद्यायें कही गई हैं, वे भक्तियोग कहलाती है। उन ब्रह्मविद्याओ मे त्रैवर्णिक मनुष्य (ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य) और देवताओ का ही अधिकार है। ये ही उन ब्रह्मविद्याओ का अनुष्ठान कर सकते हैं। यह अर्थ ब्रह्मसूत्रो में अपशूद्राधिकरण और देवताधिकरण मे वर्णित है। इसका कारण यह है कि उपनिषदो के द्वारा ब्रह्म को जानकर उन ब्रह्मविद्याओ का अनुष्ठान करना होगा। शूद्रो को उपनिषदो के द्वारा ब्रह्मज्ञान हो नही सकता क्योकि उनको वेदाध्ययन निषिद्ध है। वेदाध्ययन का अंग उपनयन है तीनो वर्णों को ही उपनयन विहित है शूद्रो को उपनयन विहित नही है। उपनयन न होने कारण भी शूद्रो को वेदाध्ययन मे अधिकार नही है, शूद्र न वेद का ही अध्ययन कर सकते है, न वेदान्त उपनिषद का ही। उपनिषदो के द्वारा ब्रह्मज्ञान उन्हे प्राप्त नही होता। उपनिषदो के द्वारा ब्रह्मज्ञान न मिलने के कारण शूद्रो का ब्रह्मविद्याओ मे अधिकार नही माना जाता। शूद्रो को ब्रह्मविद्याओ में अधिकार न होने मे दूसरा कारण यह भी है कि उपनिषद्वर्णित ब्रह्मविद्या अर्थात् भक्तियोग याग आदि धर्मों की अपेक्षा रखता है क्योकि वैदिक याग आदि धर्म उस ब्रह्मविद्या के अग हैं। वैदिक याग में शूद्र का अधिकार नही क्योकि वैदिक याग आधान के द्वारा प्राप्त हुए अग्नि तथा अध्ययन के द्वारा प्राप्त हुए ज्ञान की अपेक्षा रखते हैं, शूद्रो का अग्नि के आधान मे अधिकार नही क्योकि आधान 'वसन्ते २ ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत ग्रीष्मे राजन्य शरदि वैश्य' इस वचन से त्रैवर्णिको के लिये ही विहित है शूद्रो के लिये नही यह अर्थ पहले ही कहा गया है कि शूद्रो का वेदाध्ययन मे अधिकार नही है। इस प्रकार शूद्रो को न आधान के द्वारा अग्नि प्राप्त होता है, न अध्ययन के द्वारा ज्ञान ही प्राप्त होता है। अग्नि और ज्ञान न होने के कारण शूद्रो को याग में अधिकार नही होता

करते हैं कि हम श्री भगवान के परतन्त्र हैं श्रीभगवान की प्रेरणा से ही हम भक्तियोग का अनुष्ठान करते हैं श्रीभगवान ही हम से भक्तियोग करा रहे है इस प्रकार हम साधन करते समय श्रीभगवान के परतन्त्र रहते हैं, इतना ही नही फलप्राप्ति के विषय मे भी हम श्रीभगवान के परतन्त्र है। इस साधना से प्रसन्न होकर यदि श्रीभगवान फल देंगे, तभी हम फल प्राप्त कर सकते है। इस प्रकार भक्त साधना और फलप्राप्ति के विषय मे अपनी परतन्त्रता का अनुसन्धान करते हुए साधना करते हैं। शरणागति करते समय प्रपन्न यह धारणा रखते है कि हम श्रीभगवान के अत्यन्त परतन्त्र हैं। जिस प्रकार ज्ञान और शक्ति न होने के कारण अचेतन कोई साधना नही कर सकता उसी प्रकार चेतन होता हुआ भी मै कर्मयोग ज्ञानयोग और भक्तियोग के विषय मे ज्ञान और शक्ति से शून्य होने के कारण किसी भी मोक्षोपाय को नही कर सकता। मेरे लिये उपाय श्री भगवान ही है मैं अचेतन के समान उनका परतन्त्र हूँ। जिस प्रकार स्वामी अपनी अचेतन वस्तु की तरफ से किसी भी साधना की आशा न रखते हुए अपनी इच्छा से ही अचेतन वस्तु को ऊँचे स्थान पर पहुँचा देते हैं उसी प्रकार हमारे स्वामी श्रीभगवान भी ज्ञानशक्तिहीन मेरी तरफ से किसी भी साधना की प्रतीक्षा न करके स्वय ही उपाय वनकर मुझको परमपद मे पहुँचा दें। मै सब प्रकार से अचेतन के समान उनका परतन्त्र हू। इस प्रकार समझते हुए प्रपन्न श्रीभगवान के शरण में जाते हैं। इस प्रकार की अत्यन्त परतन्त्रता की अवस्था मे प्रपत्ति ही काम देती है, उस अवस्था मे प्रपत्ति ही उचित मानी जाती है। भक्ति वैसा औचित्य नही रखती।

अपिहितस्वोपायभावा त्वय्येव त्वदुपायधीर्मेऽस्तु श्रीभगवान को प्राप्त करने के लिये श्रीभगवान को ही उपाय मानना शरणागति है। शरणागत साधक श्रीभगवान को प्राप्त करने के लिये श्रीभगवान को ही उपाय मानते हैं, दूसरे उपायो मे हाथ नही लगाते। शरणागति मे फल और साधन दोनो श्रीभगवान ही

है। शूद्रो को याग में अधिकार न होने के कारण अगरूप में यागों की अपेक्षा रखनेवाली ब्रह्मविद्या मे अधिकार शूद्रों को हो नही सकता। इस विवेचन से सिद्ध होता है कि त्रवर्णिको को ही औप निषद ब्रह्मविद्याओ मे अर्थात् भक्तियोग मे अधिकार है। इससे यही निष्कप निकलता है कि शूद्र इत्यादि लोग भक्तियोग से लाभ नही उठा सकते। उनके उद्धार के लिये भक्तियोग साधन नहीं बन सकता। भक्तियोग मे सबका अधिकार नही है किन्तु कतिपय उच्च वर्णों का ही अधिकार है। यह एक प्रकार से भक्तियोग की न्यूनता ही है। प्रपत्तियोग मे न्यूनता नही है प्रपत्तियोग में सब का अधिकार है। शरीरधारी सभी बद्ध जीव प्रपत्ति के अधिकारी है, चाहे वह प्रपत्ति अपनी तरफ से की जाय या दूसरों के द्वारा की जाय। इसमे कारण यह है कि प्रपत्तियोग वैदिक याग इत्यादि धर्मों की अपेक्षा नही रखता है, यह तो आनुकूल्यसकल्प इत्यादि पाँचों अगो की ही अपेक्षा रखता है। न इसमें आधान से प्राप्त होने वाले अग्नि की आवश्यकता है न अध्ययन से प्राप्त होने वाले ज्ञान की आवश्यकता है। अग्निविद्याशून्य वदिकयागानधिकृत शूद्रो का भी प्रपत्ति मे अधिकार अक्षुण्ण रहता है। अतएव प्रपत्ति में उसी प्रकार सब का अधिकार माना जाता है जिस प्रकार सत्य भाषण मे सब का अधिकार माना जाता है। प्रपत्ति में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र देवता पशु पक्षी और वृक्ष इत्यादि सब का अधि कार है। प्रपत्ति इन सब का उद्धार कर देती है। यह विशेषता प्रपत्ति में ही ह।

यावदात्मनियतत्वपारतन्त्र्योधिता हे श्रीरङ्गनाथ भगवन्! हम सभी जीव आपके परतन्त्र है यही परतन्त्रता है, यह परतन्त्रता हमारे आत्मस्वरूप के साथ गाढ सबद्ध है जब तक हम लोग रहेंगे तब तक परतन्त्रता भी हम लोगों मे बनी रहेगी। हम सभी जीव नित्य है सवदा रहने वाले हैं आपके प्रति परतन्त्रता भी हम लोगों मे सर्वदा बनी रहेगी। इस परतन्त्रता से प्रपत्ति अधिक मेल रखती है भक्ति वसे मेल नही रखती है। भक्त यह समझ कर भक्तियोग

करते है कि हम श्री भगवान के परतन्त्र हैं श्रीभगवान की प्रेरणा से ही हम भक्तियोग का अनुष्ठान करते हैं श्रीभगवान ही हम से भक्तियोग करा रहे हैं इस प्रकार हम साधन करते समय श्रीभगवान के परतन्त्र रहते है, इतना ही नही फलप्राप्ति के विषय मे भी हम श्रीभगवान के परतन्त्र है। इस साधना से प्रसन्न होकर यदि श्रीभगवान फल देंगे, तभी हम फल प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार भक्त साधना और फलप्राप्ति के विषय मे अपनी परतन्त्रता का अनुसन्धान करते हुए साधना करते हैं। शरणागति करते समय प्रपन्न यह धारणा रखते हैं कि हम श्रीभगवान के अत्यन्त परतन्त्र है। जिस प्रकार ज्ञान और शक्ति न होने के कारण अचेतन कोई साधना नही कर सकता उसी प्रकार चेतन होता हुआ भी मै कर्मयोग ज्ञानयोग और भक्तियोग के विषय में ज्ञान और शक्ति से शून्य होने के कारण किसी भी मोक्षोपाय को नही कर सकता। मेरे लिये उपाय श्री भगवान ही हैं मैं अचेतन के समान उनका परतन्त्र हूँ। जिस प्रकार स्वामी अपनी अचेतन वस्तु की तरफ से किसी भी साधना की आशा न रखते हुए अपनी इच्छा से ही अचेतन वस्तु को ऊँचे स्थान पर पहुँचा देते है उसी प्रकार हमारे स्वामी श्रीभगवान भी ज्ञानशक्तिहीन मेरी तरफ से किसी भी साधना की प्रतीक्षा न करके स्वय ही उपाय वनकर मुझको परमपद मे पहुँचा दें। मैं सव प्रकार से अचेतन के समान उनका परतन्त्र हू। इस प्रकार समझते हुए प्रपन्न श्रीभगवान के शरण मे जाते हैं। इस प्रकार की अत्यन्त परतन्त्रता की अवस्था मे प्रपत्ति ही काम देती है, उस अवस्था मे प्रपत्ति ही उचित मानी जाती है। भक्ति वैसा औचित्य नही रखती।

अपिहितस्वोपायभावा त्वय्येव त्वदुपायधीर्मेऽस्तु श्रीभगवान को प्राप्त करने के लिये श्रीभगवान को ही उपाय मानना शरणागति है। शरणागत साधक श्रीभगवान को प्राप्त करने के लिये श्रीभगवान को ही उपाय मानते हैं, दूसरे उपायो मे हाथ नही लगाते। शरणागति मे फल और साधन दोनो श्रीभगवान ही

है। प्राप्य होने से श्रीभगवान फल माने जाते हैं। उपाय होने से श्रीभगवान साधन माने जाते हैं। लोग हरी घास को हाथ में लेकर गौ को दिखाकर गौ को बुलाते हैं, उस घास को दिखा दिखाकर गौ को गोष्ठ में पहुँचाकर तब उसे खाने को देते हैं, यहां पर घास साधन और फल दोनों है। घास के सहारे से ही गौ गोष्ठ में पहुँचायी जाती है इसलिये घास साधन है घास अन्त में गौ को खाने के लिये दी जाती है, गौ का खाद्य होने से घास फल भी है। वैसे ही प्रकृत में समझना चाहिये। शरणागति में प्राप्य और प्रापक दोनों श्रीभगवान ही हैं।

जिस प्रकार भक्तियोग मोक्ष का साधन है वैसे ही प्रपत्तियोग भी मोक्ष का साधन है। यह अर्थ शास्त्रार्थविचार से सिद्ध होता है। जिस प्रकार उपासीत शब्द कहकर भक्ति का विधान किया गया है। उसी प्रकार शरण शब्द कह कर प्रपत्ति का विधान किया गया है। भक्तियोग और प्रपत्तियोग में अन्तर इतना है कि साधक भक्तियोग करते समय भक्ति को उपाय समझ सकते है पर प्रपत्तियोग करते समय प्रपत्ति को उपाय नहीं समझ सकते हैं। इसमें कारण यह है शरणागति करते समय साधक श्रीभगवान को ही उपाय मानते हैं, उस समय शरणागति को उपाय नहीं मान सकते हैं। श्री भगवान को ही उपाय मानना तथा शरणागति को भी उपाय मानना ये दोनों बातें एक साथ नही भास सकती। शास्त्र से शरणागति का उपायत्व सिद्ध होने पर भी शरणागति के अनुष्ठानकाल मे शरणागति का उपायत्व बुद्धिविषय नहीं होता श्रीभगवान का ही उपायत्व अनुसंहित होता है। उस समय श्रीभगवान के उपायत्व से शरणागति का उपायत्व उसी प्रकार आच्छादित हो जाता है, जिस प्रकार दिन मे सूर्य के प्रकाश से तारागण का प्रकाश आच्छादित हो जाता है। श्रीदेशिक स्वामी श्री श्रीरङ्गनाथ भगवान से प्रार्थना करते हैं कि हे श्रीभगवान ! शरणागति करते समय मेरे मन में यही भावना बनी रहे कि श्रीभगवान को प्राप्त करने के लिये श्रीभगवान ही उपाय हैं, इस भावना से दूसरी भावना—

कि शरणागति भी उपाय है—दबी रहे, अभिभूत रहे एक मात्र आपके विषय मे ही उपायत्व भावना रहे। शरणागति के उपायत्व तक को ख्याल न करके एक मात्र श्रीभगवान को उपाय मानना ही उच्चकोटि की शरणागति है। हे श्रीभगवन्, कृपा करके इस प्रकार की उच्चकोटि की शरणागति को मुझसे सपन्न कराइये। यही प्रार्थना है ॥१०॥

(११)

त्वय्याचार्यैर्विनिहितभरास्तावका रङ्गनाथ
त्वत्कैङ्कर्यप्रवणमनसस्त्वद्गुणास्वादमत्ताः ।
त्वय्येकस्मिन्नपि विजहतो मुक्तवत् साधनत्वं
त्वच्छेषत्वस्वरसरसिकाः सूरयो मे स्ववन्ताम् ॥

शरणागति तीन प्रकार की है (१) स्वनिष्ठा (२) उक्तिनिष्ठा और (३) आचार्यनिष्ठा। कई महानुभाव आचार्य के उपदेश से स्वस्वरूप और परस्वरूप इत्यादि के विषय मे विशदज्ञान को प्राप्त कर स्वय भगवान के शरण मे जाते हैं। इसे स्वनिष्ठा कहते हैं। कई महानुभाव विशदज्ञान न होने पर भी यह समझते हुए कि—शरण मे जाने पर श्रीभगवान अवश्य रक्षा करेंगे—श्रीभगवान के सन्निधि मे जाकर वहाँ आचार्य के द्वारा उपदिष्ट द्वयमन्त्र का उच्चारण करते हुए श्रीभगवान के शरण मे जाते हैं। इसे ही उक्तिनिष्ठा कहते है। इससे भी प्रसन्न होकर श्रीभगवान फल देते हैं। भले ही साधक को द्वयमन्त्रार्थ के विषय मे विशदज्ञान न हो। परन्तु श्रीभगवान को विशदज्ञान है। अतएव श्रीभगवान साधक को फल देते हैं। यहाँ पर दो दृष्टान्त ध्यान देने योग्य हैं (१) उपनयन सस्कार को प्राप्त हुआ छोटा बालक भवति भिक्षां देहि इस वाक्य का अर्थ न जानता हुआ भी यदि उदार पुरुषो के द्वार पर उपस्थित होकर भवति भिक्षां देहि इस वाक्य का उच्चारण करता है तब उन गृहस्थो की स्त्रियाँ इस वाक्य का अर्थ जानकर

ब्रह्मचारी को भिक्षा देती है, उच्चारण करने वाले को अर्थज्ञान न पर भी वाक्य बुद्धिमान श्रोताओं को बोध करा ही देता है। इस प्रकार बिना समझ के कहे हुए वाक्य से ब्रह्मचारी का मनोरथपूर्ण हो जाता है। (२) बलवान राजा के द्वारा युद्ध में दूसरे राजा का संहार होने पर विजित राजा का अबोध बालक धाई के द्वारा सिखाये गये महाराज मां पाहि इस वाक्य को रटता हुआ जब विजेता राजा के समक्ष पहुँचता है, तब विजेता राजा उस वाक्य का अर्थ समझकर अवश्य उस बालक की रक्षा करता है। कारण यह है कि अबोध बालक भले ही उस वाक्य का अर्थ न जाने तथापि बुद्धिमान राजा जानता है, अतएव उस बालक की रक्षा हो जाती है। वैसे ही प्रकृत में समझना चाहिये। शरणागत यदि इतना ही जानकर कि शरण में जाने पर श्रीभगवान अवश्य रक्षा करेंगे, आचार्य के द्वारा उपदिष्ट द्वयमन्त्र का उच्चारण करता हुआ श्रीभगवान के शरण में जाय भले ही द्वयमन्त्र के अर्थ को अच्छी तरह से न जाने, तथापि इसके मुखसे निकले द्वयमन्त्र के अर्थ को समझने वाले सर्वज्ञ श्रीभगवान उक्तिनिष्ठा शरणागति करनेवाले शरणागत की भी रक्षा कर देते हैं। शरणागति का तीसरा प्रकार आचार्यनिष्ठा है। आचार्यनिष्ठ शरणागत अन्यान्य शरणागतों के समान स्वयं श्रीभगवान के शरण में नहीं जाते हैं किन्तु आचार्य के शरण में ही रहते हैं। वे समझते हैं कि आचार्य ही हमारे लिये शरण हैं उनकी कृपा से ही हमको मोक्ष मिलेगा। आचार्य के द्वारा इनको मोक्ष इस प्रकार प्राप्त होता है कि आचार्य अपने आश्रित जीवों की रक्षा करने के लिये श्रीभगवान से इस प्रकार प्रार्थना करके भर समर्पण कर देते हैं कि हे श्रीभगवन्! ये जीव मेरे आश्रित हैं आप इनकी रक्षा का भार लें, मेरे शरण में रहने वाले इन जीवों की रक्षा कृपया आप करें मैं आपके श्री चरणों में इनकी रक्षा के भार को समर्पित करता हूँ। इस प्रकार आचार्य के द्वारा भरसमर्पण [illegible] जाने पर श्रीभगवान प्रसन्न होकर आचार्य के शरण में रहने [illegible] की रक्षा करते हैं। इसे ही आचार्यनिष्ठा कहते हैं।

पूर्व श्लोक मे श्रीदेशिक स्वामी जी ने स्वनिष्ठा शरणागति का वर्णन किया। इस श्लोक मे आचार्यनिष्ठा का वर्णन करते हुए श्रीभगवान से प्रार्थना करते हैं कि इन आचार्य निष्ठ शरणागतो पर हमको श्रद्धा भक्ति और प्रेम बढे। आचार्यनिष्ठा मे निम्नलिखित वचन प्रमाण है। लक्ष्मीतन्त्र मे कहा गया है कि—

आत्मात्मीयभरन्यासोह्यात्मनिक्षेपउच्यते ।

अर्थात् अपने रक्षाभार तथा आत्मीय जनो के रक्षाभार को श्रीभगवान के चरणो मे समर्पित करना आत्मनिक्षेप कहलाता है। शाण्डिल्य स्मृति मे कहा गया है कि—

पुत्रः प्रेष्यस्तथा शिष्य इत्येवं च निवेदयेत् ।

अर्थात् आचार्य पुत्र शिष्य और सेवक का नाम लेकर इनके भार को श्रीभगवान् के चरणो मे समर्पित करदें। आचार्यनिष्ठ महानुभावो के विषय मे यह श्लोक प्रवृत्त है।

हे रङ्गनाथ ! **त्वय्याचार्यैर्विनिहितभरास्तावका** हे श्रीरङ्गनाथ भगवन् ! आचार्यनिष्ठ शरणागत यद्यपि साक्षात् स्वय आपके शरण में नही आते हैं किन्तु आचार्य के शरण मे ही रहते हैं, परन्तु उनको आश्रय देने वाले आचार्य उनके रक्षाभार को आपके यहाँ समर्पित कर देते हैं, इस प्रकार उनकी भी शरणागति सपन्न हो जाती है। उन लोगो का रक्षाभार आचार्य के द्वारा आपके चरणो मे समर्पित हो जाता है इसलिये वे आपके हो जाते है। आप उनको भी अपना मान लेते हैं। आचार्यनिष्ठ शरणागतो में आपका प्रेम बढ जाता है। आपने ठीक कहा है कि **मम मद्भक्तभक्तेषु प्रीतिरभ्यधिका भवेत्** अर्थात् हमारे भक्तो के प्रति जो भक्त है उनके विषय मे हमको प्रीति बढ जाती है, खास हमारे भक्तो के विषय मे भी हमको उतना प्रेम नही जितना प्रेम उन भक्तो के विषय मे होता है। वे भी आचार्य को इष्टदेव समझकर आपके दास बन जाते हैं। उनका आपके साथ सम्बन्ध आचार्य के द्वारा होता है, वे इसी सम्बन्ध को

उसी प्रकार पक्का एवं परम पुनीत समझते हैं जिस प्रकार माता पिता के द्वारा संपादित होने वाले पतिसम्बन्ध को कन्या पक्का एवं परम पवित्र समझती है। वे स्वनिष्ठा शरणागति को स्वयंवर के समान तथा आचार्यनिष्ठा को धार्मिक ववाहिक सम्बन्ध के समान समझकर उसी प्रकार आपके अधीन रहते हैं जिस प्रकार विवाहित वधू पति के अधीन रहती है।

त्वत्कैङ्कर्यप्रवणमनसस्त्वद्गुणास्वादमत्ता आचार्यनिष्ठ शरणागतों का मन सर्वदा आपके कैङ्कर्य में उसी प्रकार आसक्त रहता है जिस प्रकार विवाहित स्त्री का मन पति सेवा में आसक्त रहता है। आपके कैङ्कर्य के सिवाय उनको दूसरा कुछ भी पुरुषार्थ नहीं भाता है। जब वे कैङ्कर्य से विरत होते हैं तब आपके गुणानुभव में लग जाते हैं। आपके कल्याणगुणों का आस्वाद करते करते मस्त हो जाते हैं। श्रीराम और श्रीकृष्ण इत्यादि अवतारों में आपने जिन जिन दिव्य कल्याणगुणों को प्रकाशित किया था उन उन चरित्रों के अनुसार उन कल्याणगुणों का अनुभव करते हुए वे निर्भर निर्भय एवं हृष्ट मन वाले बन जाते हैं। वे सर्वदा यही कहते रहते हैं कि जब श्रीभगवान ने जगन्माता श्री जी के विषय में असह्य अपराध करने वाले पर भी कृपा की तथा लगातार तीनों जन्मों में द्वेष करनेवाले शिशुपाल को भी सायुज्य मुक्ति दी तब हमें क्यों न अपनायेंगे ? हमने तो वैसा अपराध नहीं किया। परिपूर्ण विश्वास है कि श्रीभगवान हमें अवश्य अपनायेंगे। श्रीभगवान परम स्वतन्त्र होते हुए भी आश्रितों के सामने परतन्त्र बन जाते हैं सर्वज्ञ होते हुए भी आश्रितों के अपराध के विषय में अविज्ञात बन जाते हैं, सर्वस्वामी होते हुए भी आश्रितों के दास बन जाते हैं। सब से श्रेष्ठ होते हुए भी निषादराज सुग्रीव एवं शबरी तथा श्री सुदामा जी कुब्जा और गोपिकाओं से हिलमिलकर रहने में ही रसानुभव करते हैं। कहाँ तक कहा जाय श्रीभगवान के कल्याणगुण अनन्त हैं वत्सल श्रीभगवान मेरे अपराध को बिना देखे ही मुझे अवश्य अपनायेंगे। स्वामी श्रीभगवान मेरी प्राप्ति को अपना लाभ

समझ कर सहर्ष मुझे स्वीकार करेंगे । सुशील श्रीभगवान अत्यन्त विश्वसनीय हैं, उनसे दूत्य सारथ्य इत्यादि के समान अनुचित कार्य भी लिया जा सकता है, वे किसी भी काम को अनुचित न समझते हुए सर्वदा आश्रितो के मनोरथ पूर्ण करने मे ही दत्तचित्त रहते है । सर्वज्ञ श्रीभगवान हम लोगो को देने योग्य सर्वविधिहितो को दूर करने योग्य विरोधी तत्त्वो को सर्वदा समझते रहते हैं । सर्वशक्ति-सम्पन्न श्रीभगवान अत्यन्त नीच बने हुए हम लोगो को भी नित्य सूरियो की परिषद् मे बैठा सकते है । सत्यसकल्प श्रीभगवान अपने आश्रितरक्षण सकल्प को कभी व्यर्थ होने नही देगे । परमदयालु श्रीभगवान शरणागति इत्यादि क्षुद्र साधनो को भी निमित्त बनाकर अवश्य रक्षा करेंगे । कृतज्ञ श्रीभगवान हम लोगो के द्वारा सम्पन्न अत्यल्प अनुकूल व्यापार को भी परमोपकार मान कर अवश्य कृपा करेंगे । स्थैर्यगुणयुक्त श्रीभगवान अत्यन्त अन्तरङ्गो के द्वारा विरोध किये जाने पर भी हम लोगो को नही छोडेगे । श्रीविभीषण जी को अपनाकर श्रीभगवान ने इस दिव्य गुण को प्रकाशित किया । परिपूर्ण श्रीभगवान सेवा में दिये जाने वाले पदार्थों के मूल्य पर ध्यान नही देंगे किन्तु भाव पर ही ध्यान देगें । परमोदार श्रीभगवान उपाय की क्षुद्रता उपेय की महत्ता एव पात्र के निकर्ष पर ध्यान न देकर सर्वस्व भी देंगे । इस प्रकार आचार्यनिष्ठ श्रीभगवान के कल्याणगुणो का आस्वाद लेते हुए मस्त हो जाते हैं । श्रीभगवद्-गुणानुभव से प्रेरित होकर द्विगुण उत्साह से कैङ्कर्य करते रहते हैं ।

त्वय्येकस्मिन्नपि साधनत्व मुक्तवद्विजहत. हे श्रीभगवान् ! आप सब से मुख्य हैं, आप उपायो मै सब से प्रधान उपाय हैं । आचार्य-निष्ठ शरणागत आपके विषय मे भी उपायत्व भावना नही रखते हैं । वे समझते हैं कि श्रीआचार्य ने मेरे लिये शरणागति की । आचार्य जो श्रीभगवान को उपाय समझ रहे हैं उससे ही मेरा कल्याण हो जायगा । हमको अलग श्रीभगवान को उपाय समझने की आवश्य-कता नही हैं । जिस प्रकार मुक्त लोग सर्वविध मनोरथ सपन्न होने के कारण श्रीभगवान मे उपायत्व भावना नही रखते हैं, उसी प्रकार

उसी प्रकार पक्का एवं परम पुनीत समझते हैं जिस प्रकार माता
पिता के द्वारा संपादित होने वाले पतिसम्बन्ध को कन्या पक्का
एवं परम पवित्र समझती है। वे स्वनिष्ठा शरणागति को स्वयंवर
के समान तथा पारतन्त्र्यनिष्ठा को धार्मिक वैवाहिक सम्बन्ध के
समान समझकर उसी प्रकार आपके अधीन रहते हैं जिस प्रकार
विवाहित वधू पति के अधीन रहती है।

त्वत्कैङ्कर्यप्रवणमनसस्त्वद्गुणास्वादमत्ताः आचार्यनिष्ठ शरणा
गतों का मन सर्वदा आपके कैङ्कर्य में उसी प्रकार आसक्त रहता है
जिस प्रकार विवाहित स्त्री का मन पति सेवा में आसक्त रहता है।
आपके कैङ्कर्य के सिवाय उनको दूसरा कुछ भी पुरुषार्थ नहीं भाता
है। जब वे कैङ्कर्य से विरत होते हैं तब आपके गुणानुभव में लग
जाते हैं। आपके कल्याणगुणों का आस्वाद करते करते मस्त हो
जाते हैं। श्रीराम और श्रीकृष्ण इत्यादि अवतारों में आपने जिन
जिन दिव्य कल्याणगुणों को प्रकाशित किया था उन उन चरित्रों
के अनुसार उन कल्याणगुणों का अनुभव करते हुए वे निर्भर
निर्भय एवं हृष्ट मन वाले बन जाते हैं। वे सर्वदा यही कहते रहते
हैं कि जब श्रीभगवान ने जगन्माता श्री जी के विषय में असह्य
अपराध करने वाले पर भी कृपा की तथा लगातार तीनों
जन्मों में द्वेष करनेवाले शिशुपाल को भी सायुज्य मुक्ति दी तब हमें
क्यों न अपनायेंगे! हमने तो वैसा अपराध नहीं किया। परिपूर्ण
विश्वास है कि श्रीभगवान हमें अवश्य अपनायेंगे। श्रीभगवान परम
स्वतन्त्र होते हुए भी आश्रितों के सामने परतन्त्र बन जाते हैं
सर्वज्ञ होते हुए भी आश्रितों के अपराध के विषय में अविज्ञाता
बन जाते हैं सर्वस्वामी होते हुए भी आश्रितों के दास बन जाते
हैं। सब से श्रेष्ठ होते हुए भी निषादराज सुग्रीव एवं शबरी तथा
श्री सुदामा जी कुब्जा और गोपिकाओं से हिलमिलकर रहने में ही
रसानुभव करते हैं। कहाँ तक कहा जाय श्रीभगवान के कल्याणगुण
अनन्त हैं वत्सल श्रीभगवान मेरे अपराध को बिना देखे ही मुझे
अवश्य अपनायेंगे। स्वामी श्रीभगवान मेरी प्राप्ति को अपना लाभ

समझ कर सहर्ष मुझे स्वीकार करेंगे। सुशील श्रीभगवान अत्यन्त विश्वसनीय हैं, उनसे दूत्य सारथ्य इत्यादि के समान अनुचित कार्य भी लिया जा सकता है, वे किसी भी काम को अनुचित न समझते हुए सर्वदा आश्रितो के मनोरथ पूर्ण करने मे ही दत्तचित्त रहते है। सर्वज्ञ श्रीभगवान हम लोगो को देने योग्य सर्वविधिहितो को दूर करने योग्य विरोधी तत्त्वो को सर्वदा समझते रहते है। सर्वशक्तिसम्पन्न श्रीभगवान अत्यन्त नीच बने हुए हम लोगो को भी नित्य सूरियो की परिषद् मे बैठा सकते हैं। सत्यसकल्प श्रीभगवान अपने आश्रितरक्षण सकल्प को कभी व्यर्थ होने नही देगे। परमदयालु श्रीभगवान शरणागति इत्यादि क्षुद्र साधनो को भी निमित्त बनाकर अवश्य रक्षा करेंगे। कृतज्ञ श्रीभगवान हम लोगो के द्वारा सम्पन्न अत्यल्प अनुकूल व्यापार को भी परमोपकार मान कर अवश्य कृपा करेंगे। स्थैर्यगुणयुक्त श्रीभगवान अत्यन्त अन्तरङ्गों के द्वारा विरोध किये जाने पर भी हम लोगो को नही छोडेंगे। श्रीविभीषण जी को अपनाकर श्रीभगवान ने इस दिव्य गुण को प्रकाशित किया। परिपूर्ण श्रीभगवान सेवा मे दिये जाने वाले पदार्थों के मूल्य पर ध्यान नही देंगे किन्तु भाव पर ही ध्यान देगें। परमोदार श्रीभगवान उपाय की क्षुद्रता उपेय की महत्ता एवं पात्र के निकर्ष पर ध्यान न देकर सर्वस्व भी देंगे। इस प्रकार आचार्यनिष्ठ श्रीभगवान के कल्याणगुणो का आस्वाद लेते हुए मस्त हो जाते है। श्रीभगवद्-गुणानुभव से प्रेरित होकर द्विगुण उत्साह से कैङ्कर्य करते रहते हैं।

त्वय्येकस्मिन्नपि साधनत्व मुक्तवद्विजहतः हे श्रीभगवान्! आप सब से मुख्य हैं, आप उपायो मे सब से प्रधान उपाय हैं। आचार्यनिष्ठ शरणागत आपके विषय मे भी उपायत्व भावना नही रखते हैं। वे समझते हैं कि श्रीआचार्य ने मेरे लिये शरणागति की। आचार्य जो श्रीभगवान को उपाय समझ रहे है उससे ही मेरा कल्याण हो जायगा। हमको अलग श्रीभगवान को उपाय समझने की आवश्यकता नही हैं। जिस प्रकार मुक्त लोग सर्वविध मनोरथ सपन्न होने के कारण श्रीभगवान मे उपायत्व भावना नही रखते हैं, उसी प्रकार

आचार्यनिष्ठ महात्मा लोग भी आचार्य के द्वारा की गई शरणागति से अपनी इष्ट सिद्धि को अवश्यभावी मानकर श्रीभगवन् ! आप में उपायत्वभावना नहीं रखते तथा जो कुछ कैङ्कर्य करते रहते हैं उसे भी उपाय नहीं मानते।

स्वच्छेष्यत्वस्वरसरसिका सूरयो मे स्वदन्ताम् हे श्रीभगवन् ! इस प्रकार आचार्यनिष्ठ सत्पुरुष अपने द्वारा संपन्न होने वाले कैङ्कर्य के विषय में तथा आपके विषय में भी उपायत्व भावना को तिलाञ्जलि देकर सर्वदा आपकी सेवा में रस लेते रहते हैं। किसी न किसी प्रकार से आपके उपयोग में आने में ही उन्हे रस मिलता है। उन को और सब कुछ नीरस तथा आपकी सेवा रसमय प्रतीत होती है। इस प्रकार निःस्वार्थ भाव से विशुद्ध सेवा में रत यह आचार्यनिष्ठ महात्मा लोग ही वास्तव में विद्वान कहलाने योग्य हैं। हे श्रीभगवन् ! मेरी यही भावना है कि ऐसे आचार्यनिष्ठ शरणागतों के प्रति मेरे मन में रुचि श्रद्धा भक्ति और प्रेम बढ़ें। ये सर्वदा हमको अच्छे लगते रहें॥११॥

(१२)

कल्पस्तोमेऽप्यपास्तत्वदितरगतयोऽशक्त्यधी भक्ति भूम्ना।
रङ्गेश प्रातिकूल्यक्षरणपरिणमन्निर्विघातानुकूल्या ।
ध्यातार त्वामभेद्याच्छरणवरणतो नाथ निर्विघ्नयन्त-
स्त्वत्सिक्षिप्तात्मरक्षा प्रति रभसजुषस्त्वप्रवृत्तिं त्यजन्ति ।।

पूर्वश्लोक मे श्रीदेशिक स्वामी जी ने आचार्यनिष्ठ का वर्णन किया है इस श्लोक में श्रीदेशिक स्वामी जी शरणागति के अधिकारी, शरणागति के अङ्ग और स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते है कि शरणागत शरणागति के बाद अपने अभिमत फल को प्राप्त करने के लिये किसी उपाय मे भी नहीं लगते हैं।

हे रङ्गेश नाथ ! अशक्त्यधीभक्तिभूम्ना कल्पस्तोमेऽप्यपास्तत्व दितरगतम् हे श्रीरङ्गनाथ भगवन् ! आप नाथ हो, आपके शरण

में आना ही न्यायप्राप्त है। आपके शरण मे आने के लिये वे ही अधिकारी योग्य माने जाते है जो सर्वथा उपायहीन हैं। उनकी यह धारणा होती है कि चाहे सहस्रो कल्प वीत जायँ तो भी श्रीभगवान को छोडकर दूसरा कोई उपाय हमे नही दिखाई दे रहा है। यह वात तो होने वाली नही है कि अधिकाधिक जन्म लेने पर हम उपायान्तर के लिये योग्य अधिकारी बन जायँ, चाहे अनेक जन्म ले तो भी ऐसे ही रह जायेंगे। सुधरने की तथा उपायान्तर के योग्य अधिकारी बनने की कोई आशा नही है। उन जन्मो मे भी ऐसे ही कोरे रह जायेगे। श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने भी श्री वैकुण्ठगद्य मे इस अर्थ का वर्णन किया है। श्रीभाष्यकार स्वामी जी की यह वाणी है कि **तत्प्राप्तये च तत्पादाम्बुजद्वयप्रपत्तेरन्यन्न मे कल्पकोटि-सहस्रेणापि साधनमस्तीति मन्वान।** अर्थात् अकिंचन साधक समझता है कि कोटिसहस्र कल्प भी वीत जायँ तो भी हम को श्रीभगवान् के चरणारविन्दद्वन्द्व मे शरणागति करने के सिवाय दूसरा साधन प्राप्त होने वाला नही है। श्री भगवान् को प्राप्त करने के लिये भक्तियोग शास्त्रो मे विहित है। भक्तियोग प्राप्त करने के लिये ज्ञानयोग एव ज्ञानयोग प्राप्त करने के लिये कर्मयोग का विधान शास्त्रो मे किया गया है। इनमें कर्मयोग और ज्ञानयोग भक्तियोग के द्वारा मोक्षसाधन हैं, भक्तियोग साक्षात् मोक्षसाधन है। कई साधक श्रीभगवत्प्राप्ति को चाहते हुए भी इन उपायो मे हाथ लगाने के योग्य नही होते हैं। इसमे कारण कई है। उनमे चार कारण मुख्य है। (१) उनमे इन उपायो को करने के लिये पर्याप्त शक्ति नही रहती है। (२) उनमें इन उपायो को समझने के लिये पर्याप्त बुद्धि नही है। (३) वे उपाय त्रैवर्णिको के द्वारा ही करने योग्य है। जिन मनुष्यो ने त्रैवर्णिक कुल में जन्म नही लिया है उनको उन उपायो को करने का अधिकार नही है। (४) प्रेम का आधिक्य चौथा कारण है। कई साधक ऐसे ही मिलते है कि वे उपायान्तरो को करने के लिये पर्याप्त शक्तिज्ञान और त्रैवर्णिक जन्म से सपन्न रहते हैं साथ ही श्रीभगवान् में अपार प्रेम से भी युक्त होते हैं।

श्री भगवान् मे उनको इतना प्रेम रहता है कि व शीघ्रातिशीघ्र श्रीभगवान् को प्राप्त करना चाहते हैं। श्रीभगवान् को प्राप्त किये बिना उनसे रहा नहीं जाता। ऐसे साधकों के लिये उपायान्तर काम नही दे सकते, क्योंकि उपायान्तर विलम्ब से भगवत्प्राप्ति कराने वाले है, ये शीघ्र भगवत्प्राप्ति चाहते है। ऐसी स्थिति में इनके लिये शरणागति ही एक उपाय रह जाता है जो अपेक्षित समय में भगवत्प्राप्ति करा सकता है। इस श्लोक मे अशक्ति शब्द से प्रथम कारण अधी शब्द से द्वितीय कारण और भक्ति शब्द से चतुर्थ कारण निर्दिष्ट हुए। यह तृतीय कारण का भी उपलक्षण है। अतः उसे भी यहाँ लेना चाहिये। इन चार निमित्तों से जो साधक उपायान्तर से शून्य हो जाते है ये साधक ही अकिंचन कहलाते हैं तथा ये ही शरणागति के अधिकारी है। भक्तभावो शक्तयभाव यह श्लोक यहाँ अनुसंधेय है।

कई श्रीकोषों मे अशक्तिधी भक्तिभूम्ना ऐसा पाठ है। उसका अर्थ इस प्रकार है कि जो साधक उपायान्तरों को समझने की शक्ति नही रखते, जो साधक समझने के लिये पर्याप्त बुद्धि बल से संपन्न होने पर भी उन साधनों को निभाने के लिये पर्याप्त शारीरिक बल से सपन्न नही तथा जो साधक पर्याप्त बुद्धिबल और शारीरबल से सपन्न होने पर भी श्रीभगवान् मे अपार प्रेम होने के कारण जल्दी ही श्रीभगवान् को प्राप्त करना चाहते है ये तीनों ही साधक शरणागति के अधिकारी माने जाते है। जो साधक इन कारणों मे ध्यान देते हुए यह समझते है कि अनेक कल्प बीतने पर भी हम हाथ लगाने योग्य नही बन सकते हैं एक शरणागति ही हमारे लिये रह गई है ऐसे साधक ही शरणागति के अधिकारी है। इन्हे ही अकिंचन कहा जाता है। मोक्षार्थ शरणागति के लिये केवल अकिंचन बनना ही पर्याप्त नही किन्तु अनन्यगति भी बनना चाहिये। अकिंचनोऽनन्यगतिः शरण्य यह श्रीयामुनाचार्य स्वामी जी की श्रीसूक्ति है। अनन्यगति उन्हे कहते है जो श्री भगवत्प्राप्ति को छोड़कर दूसरे किसी फल को भी नही चाहते, दूसरे फलो मे इच्छा

न होने से क्षुद्रफल देने वाले किसी देवता का भी आश्रय नही लेते ऐसे साधक यह धारणा रखते है कि हम श्रीभगवत्प्राप्ति को छोडकर दूसरे किसी फल को अभी ही नही किंतु अनेक कल्प बीतने पर भी कभी नही चाहेंगे । ऐसी धारणा रखने वाले अकिंचन अनन्यगति साधक—हे श्रीरङ्गनाथ भगवन्! आपके शरण मे आते हैं। इस प्रकार श्री देशिक स्वामी ने शरणागति के अधिकार का वर्णन किया है । इससे कार्पण्य अग भी सूचित होता है ।

आगे श्री देशिक स्वामी जी शरणागति के अगो का वर्णन करते हुए कहते है कि **प्रातिकूल्यक्षरणपरिणमन्निर्विघातानुकूल्याः** शरणागति के अङ्ग पाँच है । (१) आनुकूल्यसकल्प (२) प्रातिकूल्यवर्जन (३) कार्पण्य (४) महाविश्वास और (५) गोप्तृत्ववरण । हे श्रीरगनाथ भगवन्! उपर्युक्तगुणसम्पन्न साधक आपके समक्ष अपनी अकिंचनता एव अनन्यगतिता का निवेदन करते हुए कार्पण्य अग का अनुष्ठान करते है तथा आपके सन्निधि मे प्रातिकूल्यवर्जन सकल्प करते हुए यह निवेदन करते हैं कि हे श्री भगवन्! आज से मैं आपके प्रति प्रतिकूल व्यवहारो को छोड दूँगा । वेद आदि शास्त्र आपकी आज्ञा है । आपकी आज्ञा के विरुद्ध जितने आचरण होते हैं, वे सब आपके प्रति प्रतिकूल आचरण है, उन आचरणो को आज से मै सर्वथा त्याग दूँगा । प्रपन्न साधक आपके समक्ष आनुकूल्यसकल्प करते हुए यह निवेदन करते है कि प्रभो! आज से हम आपके अनुकूल होकर रहेगे शास्त्रो के अनुसार आचरण करेगे तथा आपकी विभूति बने हुए सभी चराचर प्राणियो के प्रति अनुकूल बनकर रहेगे। इस प्रकार वे न केवल सकल्प करते हैं, किन्तु सर्वथा प्रतिकूल आचरण का परित्याग कर देते है तथा सर्वथा अनुकूल आचरण ही करते रहते है। प्रतिकूल आचरणो को छोड देने के कारण अबाधितगति से उनके अनुकूल आचरण बढते रहते है ।

अभेद्याच्छरणवरणतस्त्रातारं त्वां निर्विघ्नयन्त. हे प्रभो! इन प्रपन्न साधको को आपके चरणो में अटूट विश्वास रहता है, वे

समझते है कि श्रीभगवान परम दयालु हैं जीवों पर अनुग्रह करने मे उनको अपार आनन्द मिलता है श्रीभगवान् सर्वशक्ति सपन्न भी हैं आश्रय लेने पर परम दयालु तथा सर्वसमर्थ श्रीभगवान् अवश्य मेरी रक्षा करेंगे। इनका यह विश्वास अति प्रबल कूट युक्तियों से भी डिगने वाला नही है। इस महाविश्वास के कारण ही इनकी शरणा गति अभेद्य बन जाती है। हे नाथ ! आपके श्री चरणों में शरणा गति करते हुए ये साधक रक्षक बनने के लिये आप से प्रार्थना करते है। हे श्रीभगवन् ! आप स्वभाव से ही जीवों की रक्षा करने में उद्युक्त है। आपके रक्षकत्व मे जीवो के द्वारा ही विघ्न डाले जाते हैं जीव नाना प्रकार के पाप और सकाम कर्म करते ही रहते है। ये ही कर्म जीवों की रक्षा में रोड बन जाते है। सकाम कर्मों के द्वारा सांसारिक फल चाहने वाले तथा संसार मे रहने को ही पसन्द करने वाले इन अभाग्योपहत जीवों की आपको प्राप्त करने के लिये इच्छा ही नही होती है। ऐसी स्थिति मे चाहने पर भी आपके द्वारा इनकी रक्षा होने नही पाती। जब ये शरणागत रक्षक बनने के लिए आपसे प्रार्थना करने लगते है, तब जीवो की स्वीकृति को प्राप्तकर आप अबाध गति से उनकी रक्षा मे प्रवृत्त हो जाते है। आप स्वीकृति भर चाहते है वह मिल गई तब देर क्यों हो आप निर्विघ्न रूप से उनकी रक्षा कर देते है। अतएव शास्त्रों मे कहा गया है कि—

> सर्वज्ञोऽपि च विश्वेशः सदा कारुणिकोऽपि सन् ।
> संसारतन्त्रवाहित्वाद्रक्षापेक्षां प्रतीक्षते ॥

अर्थात् श्रीभगवान् सर्वज्ञ सर्वशासक तथा सदा दयालु होते हुए भी निर्दोष बनकर संसार का सचालन करने वाले है। अतएव जीवों की तरफ से होनेवाली रक्षापेक्षा भर की प्रतीक्षा करते रहते हैं। भाव यह है कि अब तक जो जीवो की रक्षा नही हुई है इसमे यह कारण नही है कि ईश्वर उन हितों को न जानते थे जिनको जीवों को देना था अथवा ईश्वर उन विरोधियों को न जानते थे जिनको जीवो के यहां से हटाना था। वास्तविक बात यह है कि ईश्वर सर्वज्ञ है अतएव सब हितो और विरोधियों को सुष्ठुप्रकार से जानते

है। ईश्वर मे ज्ञान की कमी के कारण जीवो की रक्षा न हो सको हो सो बात नही। ईश्वर सर्वशक्तिसपन्न नही है जो अब तक जीवो की रक्षा नही हो सको यह बात भी ठीक नही, क्योकि ईश्वर विश्वेश है अतएव सर्व समर्थ है। अब तक जीवो की जो रक्षा नही हुई है इसमे यह कारण भी नही है कि ईश्वर दयालु नही था। बात यह है कि ईश्वर सदा कारुणिक है उसमे सर्वदा करुणा भरी रहती है। ऐसी स्थिति मे यह प्रश्न उठता है कि सर्वज्ञ सर्वशक्तिसपन्न तथा परम दयालु होते हुए भी ईश्वर ने अब तक जीवो की रक्षा क्यो नही की ? उत्तर उत्तरार्ध मे स्पष्ट है। श्रीभगवान् ससार के संचालक है अपने मे कोई दोष न लगे उसी प्रकार वे ससार का सचालन करते है अतएव उनको जीवो के द्वारा होने वाली रक्षापेक्षा की प्रतीक्षा करके ही जीवो की रक्षा करना पडती है। जीवो के द्वारा श्रीभगवान् से प्रार्थना न किये जाने पर भी यदि श्रीभगवान् जीवो की रक्षा मे प्रवृत्त होते तो उन्हे सब जीवो की रक्षा करनी होगी अन्यथा उनमे वैषम्य और नैर्घृण्य दोष लग जायंगे। यदि श्री भगवान् कुछ जीवो की रक्षा करते तथा कुछ की न करते तो उनमे वैषम्य दोष आ जायगा तथा जिन जीवो की रक्षा नही करते है उन जीवो के विषय मे नैर्घृण्य अर्थात् निर्दयता का दोष लग जायगा। यदि श्री भगवान् सब जीवो की रक्षा करते तो उनकी लीला बन्द हो जायेगी तथा लीलाविभूति भी उच्छिन्न हो जायेगी। किंच जीवो के द्वारा प्रार्थना न किये जाने पर भी यदि श्रीभगवान् जीवो की रक्षा करते तो पुरुषार्थ दाता नही बनेंगे। जीव जिस फल को चाहता है उसे पुरुषार्थ कहते हैं, जीव जिस फल को प्राप्त करने के लिये प्रार्थना नही करता है, वह फल पुरुषार्थ नही कहा जा सकता, न उस फल को देने वाले श्रीभगवान् ही पुरुषार्थदाता कहे जायंगे। श्रीभगवान् को पुरुषार्थदाता बनने के लिये भी उन्हे जीवो की प्रार्थना की प्रतीक्षा करनी पडती है जीव को राजी किये विना उसको मोक्ष देना भी श्री भगवान् को अभिमत नही है। इन कारणो से यही मानना पडता है कि श्रीभगवान् जीवो के द्वारा प्रार्थना किये जाने

पर ही जीवों की रक्षा करते है। शरणागत शरणागति करते समय रक्षक बनने के लिये जो श्रीभगवान् से प्रार्थना करता है, जिसे गोप्तृत्ववरण कहा जाता है उससे श्रीभगवान् को रक्षा करने का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। जीवों के द्वारा जितने पाप बन चुके है जिनके ही कारण श्रीभगवान् के द्वारा रक्षा करने में विघ्न उपस्थित होता है, शरणागति उन सब पापों के लिये प्रायश्चित्त बन जाती है, शरणागति से वे सभी पाप नष्ट हो जाते है जो विघ्न डाल रहे थे। अब वे निर्विघ्नरूप से रक्षा करने मे प्रवृत्त हो जाते है। इस प्रकार शरणागति करके प्रपन्न श्रीभगवान् को यथायरूप से रक्षा करने के माग को प्रशस्त कर देते है।

त्वमसजुषस्त्वभिक्षिप्तात्मरक्षा प्रति स्वप्रवृत्ति त्यजन्ति प्रभो ! शरणागति करनेवाले साधक शीघ्र आपको प्राप्त करना चाहते है आपको प्राप्त करने में त्वरा उनको है। त्वरा होने पर भी वे साधनान्तर मे प्रवृत्त नही होते है। अपने रक्षाभार को उन्होने आप मे समर्पित कर दिया है आपने उस भार को स्वीकार भी किया है। ऐसी स्थिति में वे सोचते है कि श्रीभगवान् निरपेक्ष उपाय है वे किसी साधन की अपेक्षा नही रखते उनके श्रीचरणों मे अपने रक्षाभार को समर्पित करने के बाद हमे निर्भर निर्भय एव हृष्टमनवाले होकर रहना चाहिये। उनमे रक्षाभार को समर्पित करने के बाद भी यदि हम श्रीभगवत्प्राप्ति में त्वरा के कारण किसी साधन में प्रवृत्त होते यह उनके प्रति अविश्वास माना जायगा। शरणागति छूट जायगी। वे रक्षा करने से हट जायँगे। तब हमारी दुर्गति होगी। हनुमानजी को ब्रह्मास्त्र से बाँधने के बाद भी राक्षसो ने रस्सियों से श्रीहनुमान जी को जब बाँधा तब ब्रह्मास्त्र हट गया वैसे ही शरणागति करने के बाद यदि हम दूसरे किसी उपाय मे प्रवृत्त होंगे चाहे वह प्रवृत्ति फलप्राप्ति मे त्वरा के कारण ही क्यों न हो, शरणागति अवश्य छूट जायगी। मेरी रक्षा असम्भव हो जायगी ऐसा सोचकर शरणागत उत्तरकाल मे कभी भी उपायान्तरो मे हाथ नही लगाते, कैङ्कर्य मे भाग लेते है ॥१२॥

(१३)

त्यक्तोपायव्यपायाँस्तदुभयकरणे सत्रपान् सानुतापान् ।
भूयोऽपि त्वत्प्रपत्त्या प्रशमितकलुषान् हन्त सर्वंसहस्त्वम् ।
रङ्गिन् न्यासान्तरङ्गाखिलजनहिततागोचरत्वन्निदेश—
प्रीतिप्राप्तस्ववर्णाश्रमशुभचरितान् पासि धन्याननन्यान् ॥

पूर्व श्लोक मे श्री देशिक स्वामी जी ने पांच अगो से युक्त शरणागति का वर्णन किया है । इस श्लोक मे श्रीदेशिक स्वामी जी शरणागति के उत्तरकाल मे प्रपन्नो के कर्तव्य का वर्णन करते हुए उस उत्तरकृत्य मे त्याज्य और सग्राह्य अर्थो का वर्णन करते है ।

रङ्गिन् ! सर्वंसहस्त्वं त्यक्तोपायव्यपायान् हे श्रीरङ्गनाथ भगवन् ! आप सब कुछ सहने वाले हो अतएव आप प्रपन्नो के द्वारा उत्तरकाल में अपराध बन जाने पर भी उन प्रपन्नो को नही त्यागते, किंतु किसी न किसी प्रकार से उन अपराधो को नष्ट कर उन प्रपन्नो को अपनाते है । आपकी सहन शक्ति अपार है । शरणागति सपन्न होते ही आप शरणागतो के रक्षाभार को अपने ऊपर लेकर उसी क्षण से उनके उद्धार के विषय मे जागरूक रहते है । अतएव आप प्रपन्नो के उत्तर जीवन को मध्यममार्ग मे ले चलते है । आपके अनुग्रह से ही प्रपन्न उत्तरकाल मे उपाय और अपायो मे प्रवृत्त न होकर मध्यम मार्ग पर चलते है । जिस प्रकार मार्ग के बीच मे सुरक्षित रहते है, मार्ग के पार्श्व मे चलने वालो को कण्टक आदि से विंध जाने का भय रहता है उसी प्रकार प्रपन्नो को उत्तर जीवन में कैङ्कर्य समझकर वर्णाश्रम धर्मो का अनुष्ठान करना चाहिये । यह मार्ग मध्य मे चलने के समान निरापद है । उत्तर जीवन मे प्रपन्नो को न उपायो को करना चाहिये न अपायो को । उपायो और अपायो को करना मार्ग के दोनो पार्श्वो मे चलने के समान आपत्तिग्रस्त है इससे प्रपन्नो को कष्ट भोगना पडेगा । प्रपन्नो को उत्तर जीवन मे उपायान्तरो को त्याग देना चाहिये, उनमे हाथ लगाने पर शरणागति छूट जायगी, श्री

भगवान् रक्षक नहीं बनगे रक्षाभार पुन जीवों के ऊपर पड जायगा। प्रपन्नों को उत्तर जीवन में अपायों को अर्थात् पापों को न करना चाहिये। प्रपन्नों को काम्य कर्म भी अनिष्टफलप्रद होने के कारण पाप ही है क्योंकि वे सासारिक फल देकर ससार में ही बांध रखने वाले है। निषिद्ध कर्म तो पाप हैं ही। ये पापकर्म ही अपाय है। प्रपन्नों को इनसे से भी बचना चाहिये अतएव स्वरूपज्ञ प्रपन्न इन उपायों और अपायों से हाथ खींच लेते हैं। हे प्रभो आप ही कृपा करके उत्तम प्रपन्नों को इस निष्ठा पर पहुँचाते हो जिससे वे सदा कर्मयोग ज्ञानयोग भक्तियोग और इन उपायों से तथा काम्य और निषिद्ध इन अपायों से बचते हुए कैङ्कर्यप्रधान विशुद्ध उत्तर जीवन बिताने लगते है।

तदुभयकरणे लज्जावान् सानुतापान् भाग्यसपन्न शरणागत उपायान्तर और अपायों को त्यागते हुए निरपराध उत्तर जीवन बिताते है। परन्तु कई भाग्यहीन शरणागत उपाय और अपाय भी कर बैठते है। दूसरों से उनमे यही विशेषता है कि उपायान्तरो में हाथ लगाने पर उनको उत्तरकाल म लज्जा उत्पन्न होती है। वे समझते है कि हमने क्या किया। श्री भगवान् हमारे रक्षाभार को स्वीकार कर चुके है वे हमारी तरफ से किसी उपायान्तर की अपेक्षा नही रखते है, अतएव उन्हे निरपेक्ष उपाय कहा जाता है। उनके लिये किसी उपायान्तर की आवश्यकता नही। न वे उपायान्तर की सहायता लेकर ही रक्षा करने वाल हैं। ऐसी स्थिति म यह समझ-कर—कि उपायान्तर से श्रीभगवान् को मदद मिलेगी—मैने जो उपायान्तरों का अनुष्ठान किया, यह तो एक परिहासयोग्य बात हुई। ऐसा मुझको नही करना चाहिए था। बडी भूल हो गई। ऐसा समझकर वे अत्यन्त लज्जित होते है तथा उपायान्तरों को सर्वदा के लिये छोड देते है। यह तो हुई उपायान्तरो मे हाथ लगाने वालों की बात। अब अपायों मे हाथ लगाने वालों की बात कही जाती है। काम्यकर्म और निषिद्धकर्म श्रीभगवत्प्राप्ति मे बाधा डालनेवाल अनिष्ट फलो को देनेवाल होने के कारण अपाय माने जाते हैं।

भाग्यसपन्न प्रपन्न इन अपाय कर्मों को कभी करते ही नही। यदि भाग्यहीन कोई प्रपन्न इन अपाय कर्मो को कभी कर भी जायँ तो आपकी कृपा से उनको उत्तरकाल मे पश्चात्ताप होने लगता है। वे सोचते है कि हमने बहुत अनुचित किया। श्रीभगवान् का मुखोल्लास कर उत्तम कैङ्कर्य करने के लिये हमने उत्तर जीवन अपनाया है। इन अपायभूत कर्मो को करके हम श्रीभगवान् के कोप के भाजन बन गये है। कितनी भूल हो गई। हमे श्रीभगवान के अनुग्रह का भाजन बनना चाहिये था, वह तो दूर रहा। अब हमे श्रीभगवान के निग्रह का पात्र बनना होगा। ऐसा सोचते ही उनके मन मे अपने विषय मे घृणा और पश्चात्ताप होने लगते है। यह भी, हे प्रभो! आपकी कृपा से ही होता है। आप शरणागतो का परित्याग करने वाले नही है। अतएव प्रायश्चित के द्वारा उनको शुद्ध करने के लिये ही आप उनके मन मे पश्चात्ताप को उत्पन्न करते है।

भूयोऽपि त्वत्प्रपत्त्या प्रशमितकलुषान् हे श्रीभगवान्! आप उनके मन मे न केवल पश्चात्ताप को उत्पन्न करते है किंतु प्रायश्चित्त मे भी प्रेरित करते है जिससे वे उन प्रायश्चित्तो को—जो धर्मशास्त्र मे उन २ पापो के लिये प्रायश्चित्त के रूप मे वर्णित है—करने लगते है। यदि कोई शरणागत धर्मशास्त्रवर्णित उन प्रायश्चित्तो को करने में असमर्थ हो तो वे तदर्थ प्रायश्चित्त के रूप मे आपके चरणो मे शरणागति करते है। इसे प्रायश्चित्त शरणागति कहा जाता है। शास्त्रो मे कहा गया है कि—

> **अपायसप्लवे सद्यः प्रायश्चित्त समाचरेत्।**
> **प्रायश्चित्तिरियं साऽत्र यत्पुनः शरणं व्रजेत्॥**
> **उपायानामुपायत्वस्वीकारेऽप्येतदेव हि॥**

अर्थात् अपाय बन जाने पर प्रायश्चित्त करे। प्रायश्चित्त यही है कि पुनः श्रीभगवान् के शरण मे चला जाय। उपायान्तरो को अपनाने पर भी यही प्रायश्चित्त करना चाहिये। इस प्रकार उपायान्तर और अपाय मे हाथ लगाने वाले शरणागत उत्तरकाल मे [illegible] और पश्चात्ताप को प्राप्त कर प्रायश्चित्त के रूप मे आपके

शरण में आकर आपसे क्षमाप्रार्थना करते हैं। यह भी आपके अनुग्रह से ही सपन्न होता है।

"यासा तरङ्गाखिलजनहिततागोचरस्वप्निदेशप्रीतिप्राप्तस्ववर्णाश्रम सुखचरितान्" हे प्रभो! जिन महानुभावों का मन शरणागति में रम जाता है वे आपको अत्यन्ताभिमत हो जाते है। आप सवना उनके हित का ही चिंतन करते है। आप सोचते है कि ये मेरे शरण मे आगये है। इनके रक्षाभार को मैंने अपने ऊपर ले लिया है। अत इनको उपायो मे प्रवृत्त होने की आवश्यकता नही। न मुझे ही इनको उनमें प्रेरित करने की आवश्यकता है। इनको आत्मयात्रा अर्थात् आत्मोद्धार की चिन्ता से छुड़ा दिया गया है। इनको देह यात्रा के विषय में चिन्ता नही करनी चाहिये। इनकी देहयात्रा अर्थात् देहनिर्वाह प्रारब्ध के अनुसार अवश्य होगा। आत्मयात्रा कल्याण का भार मैंने लेलिया तथा देहयात्रा का भार प्रारब्ध ने ले लिया। अत इनको दोनों यात्राओं से निश्चिन्त होकर परमपरम कैङ्कर्य मे भाग लेना चाहिये। मुझे भी इनको कैङ्कर्य मे ही प्रेरित करना चाहिये। जिस प्रकार विवाह सपन्न होने पर कन्या पति प्राप्ति की चिन्ता से निवृत्त होकर पितृगृह मे उन कर्मों को सीखती है जिन्हें उसे पतिगृह मे पहुँचने पर करना है। उसी प्रकार प्रपन्नों को भी आत्मयात्रा और देहयात्रा की चिन्ता को छोडकर उन कैङ्कर्यों को इस ससार में रहते समय सीखना चाहिये जिन्हे इन्हें श्रीवैकुण्ठ मे पहुँचकर करना है। इनके लिये कैङ्कर्यप्रवृत्ति ही हिता वह है। अत इन को कैङ्कर्य मे प्रेरित करना चाहिये। कैङ्कर्य वही है जिससे मेरा मुखोल्लास होगा। मेरी आज्ञाओ को मानकर चलने पर ही मुझ को अधिक सतोष होता है। मेरी प्रथम आज्ञा यही है कि मनुष्य वर्णाश्रमधर्मों का अनुष्ठान करें। शास्त्र में कहा गया है कि—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारकः॥

अर्थात् वर्णाश्रमधर्मों का अनुष्ठान करने वाले पुरुष के द्वारा ही परमपुरुष श्री विष्णु भगवान् आराधित होते है। वर्णाश्रमधर्मों को

छोडकर दूसरा कोई रास्ता नही है जिससे श्री भगवान् सन्तुष्ट हो जायँ। वर्णाश्रमधर्मों का अनुष्ठान करने वाले श्री वैष्णव ही मेरे आज्ञाकारी सेवक हो सकते है। उनको ही हम अपना समझते हैं। अतएव हमने शास्त्रो के द्वारा यह घोषणा की है कि—

श्रुति स्मृतिर्ममैवाज्ञा यस्तामुल्लङ्घ्य वर्तते ।
आज्ञाच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोऽपि न वैष्णव ॥

अर्थात् श्रुति और स्मृति मेरी ही आज्ञा है जो उस आज्ञा का उल्लघन करके आचरण करता है, वह मुझ से द्रोह करने वाला माना जायगा। मेरा भक्त होता हुआ भी वह वैष्णव नही है अर्थात् मेरा नही है। वर्णाश्रमधर्मों का पालन करने से मेरे मुखोल्लास के द्वारा इनका कल्याण तो होगा ही साथ ही उनके आचरण को आदर्श मानकर चलने वाली जनता का भी हित होगा। ऐसा सोचकर हे प्रभो! आप इन प्रपन्नो को वर्णाश्रमधर्मानुष्ठान मे शास्त्राज्ञा के द्वारा प्रेरित करते है। आपकी प्रेरणा के अनुसार ये प्रपन्न यह समझते हैं कि हम श्रीभगवान् के शरण में आगये हैं, श्री भगवान् के द्वारा हमारा उद्धार अवश्य होगा। हमे शेष जीवन में श्री भगवान् का कैङ्कर्य ही करना है, वही कैङ्कर्य उत्तम है जो श्री भगवान् की इच्छा के अनुसार किया जाय। हमे पता नही कि श्री भगवान् की इच्छा क्या है। हम वे नित्यसूरि और मुक्त तो है नही जो श्री भगवान की इच्छा को प्रत्यक्ष जानकर तदनुसार कैङ्कर्य करते है, हम बद्ध जीव हैं, अज्ञानवर्धक ससार मे फसे हैं, हम श्री भगवान् की इच्छा के विषय मे क्या जानें? श्री भगवान् की इच्छा को बिना जाने कैङ्कर्य तो बनता नही। क्या करें? इस प्रकार चिन्ता मे पडे हुए प्रपन्न जब शास्त्रो के द्वारा श्री भगवान् की आज्ञा को समझने लगते है तब उनको अपार सतोष होता है। वे समझते है कि श्री भगवान् शास्त्रो के द्वारा वर्णाश्रमधर्मों का पालन करने के लिये हमको आज्ञा दे रहे हैं। हमें उनकी आज्ञा का पता लग गया आज्ञा का पालन करना चाहिये। ऐसा समझकर आज्ञा पालन मे अपार प्रेम होने के कारण

प्रीति से प्रेरित होकर प्रपन्न द्विगुणित उत्साह से वर्णाश्रमधर्मो का अनुष्ठान करते रहते है कभी उनसे विरत नहीं होते। यह भी आपकी कृपा से ही सपन्न होता है।

धन्यानन्न्यान् पासि हन्त आपकी आज्ञा के अनुसार वर्णाश्रम धर्मपालनरूपी कैङ्कर्य मे भाग लेने वाले प्रपन्न ही धन्य है। वर्णाश्रम धर्मो का अनुष्ठान करते समय जब देवतान्तरो का नाम लेना पडता है तब वे उन २ देवताओ को श्रीभगवान् का केवल कञ्चुक समझ कर देवतान्तररूपी कञ्चुक पहने हुए अन्तर्यामी श्रीभगवान् को ही आराध्य समझते हुए देवतान्तरवाचक शब्दो का भाव परमात्मा तक लेते है। इस प्रकार वे उन वर्णाश्रमधर्मो मे श्री भगवान् को ही आराध्य समझते है देवतान्तरो को नहीं अतएव उनकी अनन्यता मे बाधा नहीं पडती। किंच व इसलिये भी अनन्य माने जाते है कि आपको छोडकर दूसरे किसी प्रयोजन को नहीं चाहते है तथा आपको छोडकर किसी दूसरे को उपाय नहीं मानते है आपको छोडकर दूसरे किसी के शरण मे भी नहीं जाते है। ऐसे शरणागतो के रक्षाभार को आप अपने ऊपर ले लेते है तथा सब प्रकार से उनकी रक्षा करते है आपका आश्रित कभी गिरता नहीं, इसलिए तो आपका अच्युत नाम पडा। वास्तव मे वे शरणागत धन्य है जिनकी रक्षा करने का जिम्मा आपने अपने ऊपर लिया ॥१३॥

(१४)

शोकास्पदांशमथन भयतां भवाब्धी
रागास्पदांशसहज न रुणत्सि दु खम्।
नो चेदमी जगति रङ्गधुरीण भूय
श्चोदिष्ठभोगरसिकास्तव न स्मरेयु ॥

पूर्व श्लोक मे श्री देशिक स्वामी जी ने यह कहा कि श्रीभगवान् प्रपन्नो की रक्षा अवश्य करते है शरणागति के उत्तर काल मे प्रपन्नों के द्वारा अपराध बन जाने पर भी श्री भगवान् प्रपन्नो के द्वारा प्रायश्चित करवाकर उनको निर्दोष बनाकर निर्दिष्ट समय मे उनको

मुक्ति देकर रक्षा करते हैं। आर्तप्रपन्नो को तो उसी क्षण मुक्ति मिल जाती है उनसे अपराध बनने की सभावना भी नही है। कभी कभी दृप्त प्रपन्नो के द्वारा ही अपराध बन जाते हैं, उनका विस्तार श्लोको में कहा गया है। इस श्लोक मे श्री देशिक स्वामी जी कहते हैं कि इस ससार मे रहते समय दृप्त प्रपन्नो को जो कभी कभी दुःख भोगना पडता है, उसका कारण श्री भगवान् की दया ही है। श्रीभगवान् दया से ही प्रारब्ध के अनुसार प्रपन्नो को दुःख भुगाते हैं।

हे रङ्गधुरीण! भवाब्धौ श्रयतां शोकास्पदांशमथनः हे श्रीरगनाथ भगवान्! ससार समुद्र में पडे हुए कई जीव सौभाग्य से आपके शरण मे आ जाते है। वे सचितकर्म और प्रारब्ध कर्म के अनुसार आगे होने वाले जन्मो का स्मरण कर बहुत चिन्तित हो जाते हैं तथा सोचते रहते हैं कि आगे किस जन्म मे हमे क्या २ क्लेश भोगना होगा। इस प्रकार उनको उत्तरजन्म चिन्ता का विषय बन जाते है। उन उत्तरजन्मो का स्मरण कर वे सर्वदा शोक करते ही रहते हैं। आप उनके शोक के आस्पद उत्तरजन्म तथा उनके देने वाले प्रारब्ध एव सचित कर्मो को नष्ट कर देते हैं तथा उन्हे चिन्ता से उन्मुक्त कर देते हैं। आप शरणागतो के द्वारा प्रपत्ति वाक्य का उच्चारण होते ही उनको मोक्ष देने के लिये त्वरित होते हैं। ऐसा अनुग्रह करना आपका स्वभाव है। ऐसे स्वभाव रखने वाले आप यदि प्रपन्नो के चिन्ताविषय उत्तरजन्म और उनके हेतुभूत कर्मों को नष्ट कर देते हैं तो यह आपके लिए उचित ही है। इसमे सब की सम्मति है किसी की भी विप्रतिपत्ति नही है।

रागास्पदांशसहजं दुःख न रुणत्सि हे प्रभो! शरणागतो मे दृप्त प्रपन्न इस ससार मे रहना चाहते है। वे आपसे शरीरावसान मे मोक्ष की प्रार्थना करते है। यद्यपि आप प्रपत्तिवाक्य के उच्चारण में ही उनको मोक्ष देने के लिये त्वरित होते हैं, तथापि उनकी इस प्रकार की प्रार्थना को सुनकर आप उनकी इच्छा को पूर्ण करने के लिये इस शरीर तक उनको ससार में रखने के लिये राजी हो जाते हैं। आप उनके प्रारब्ध मे उतने ही अंश को रहने देते हैं जितने को

उन्हें इस शरीर में भोगना है। उस प्रारब्धभाग में पुण्य और पाप दोनों समाविष्ट हैं। आप पुण्य के अनुसार उन्हें सुख भुगाते हैं तथा पाप के अनुसार उन्हें दुःख भुगाते हैं। आप उन्हें जो दुःख भुगाते हैं इसका मर्म विरले ही साधक जानते हैं, सब नहीं जानते। अतएव कई इस प्रकार की शंका करते हैं कि श्रीभगवान् प्रपन्नों को इस प्रकार दुःख क्यों भुगाते हैं? यदि श्रीभगवान् प्रपन्नों को दुःखरहित जीवनयापन के लिये व्यवस्था करते तो बहुत अच्छा होता, भगवान् ऐसा क्यों नहीं करते? इस शंका का समाधान आगे कहा जाता है कि—

नोचेदमी जगति नूनं क्षोविशुभोगरसिकास्तव न स्मरेयुः हे प्रभो! यदि आप प्रपन्नों के लिये यही व्यवस्था करते जिससे दृप्त प्रपन्नों को उत्तर जीवन में सुख ही सुख भोगना पड़े दुःख सर्वथा भोगना न पड़े—तो ये दृप्त प्रपन्न सर्वदा संसार में रहना ही पसन्द करते भगवत्प्राप्ति का नाम तक नहीं लेते। ये बारम्बार क्षुद्र विषयानुभव में रत रहेंगे। इन लोगों ने आर्त प्रपन्नों की तरह प्रपत्ति सम्पन्न होते ही अनन्तर क्षण में ही मोक्ष प्राप्त करने के लिये आपसे प्रार्थना नहीं की किन्तु शरीर छूटने के बाद मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रार्थना की। इससे व्यक्त होता है कि शरीर रहते समय तक इनको संसार में रहने की इच्छा है। आप तो उसी क्षण में ही मोक्ष देने के लिये सन्नद्ध होते रहे परन्तु इन प्रपन्नों की इच्छा को सफल करने के लिये आपने कुछ समय तक इन प्रपन्नों को संसार में रखना स्वीकार किया। यदि आप संसार में रहते समय इनको दुःख से सर्वथा रहित क्षुद्र सुखों को ही भुगाते रहें तो इनकी यह संसाररुचि कभी नहीं मिटेगी तथा भगवदनुभव में भोग्यता बुद्धि भी न बढ़ेगी इसलिये आप इनके प्रारब्ध में अन्तर्गत पापों को निमित्त बनाकर दुःख भुगाते हुए इनको सांसारिक दोषों का अनुभव कराकर संसार से विरक्त बना देते हैं जिस प्रकार हितैषी पिता चाबुक आदि की सहायता लेकर दुष्ट प्रवृत्ति वाले पुत्रों को दण्ड देकर उनकी दुष्प्रवृत्ति छुड़ा देते हैं उसी प्रकार ही आप करते

है। यह भी आपका अनुग्रह करने का एक प्रकार है। आपने साधकों को संसार से विरक्त तथा आपमें अनुरक्त बनाने के लिये अपने कर्त्तव्यों का इस प्रकार वर्णन किया ही है कि—

यस्यानुग्रहमिच्छामि धनं तस्य हराम्यहम्।
बान्धवैश्च वियोगेन भृशं भवति दुःखितः॥
यदि मां तेन दुःखेन संतप्तो न परित्यजेत्।
तं प्रसादं करिष्यामि यः सुरैरपि दुर्लभः॥

अर्थात् जिस पुरुष के ऊपर हम अनुग्रह करना चाहते हैं, उसकी सम्पत्ति को हम हर लेते हैं हम उसे बन्धुओं से वियुक्त कर देते हैं, बन्धुओं के वियोग से वह सदा दुःखी रहता है। यदि उस दुःख से संतप्त होता हुआ भी वह हमारा परित्याग नहीं करेगा तो उसके ऊपर हम वह अनुग्रह करेंगे जो अब तक देवताओं को भी नहीं मिला है। यह आपकी श्रीमुखसूक्ति है। शास्त्रों में भी कहा गया है कि—

हरिर्दुःखानि भक्तेभ्यो हितबुद्धया करोति हि।
शस्त्रक्षाराग्निकर्माणि स्वपुत्रस्य पिता यथा॥

अर्थात् श्रीभगवान् हित करने के विचार से ही भक्तों को दुःख उसी प्रकार देते हैं, जिस प्रकार पिता पुत्र को कठिन रोग से बचाने के लिये शस्त्र क्षार और अग्नि से चिकित्सा करते हैं। आप भी संसारवैराग्य और श्रीभगवदनुभव में भोग्यताबुद्धि के बढ़ाने को परम हित समझकर उसको सिद्ध करने के लिये इन संसारपतित दृप्त प्रपन्नों को दुःख देते हैं। किंच सांसारिक सुख और दुःख साथ साथ रहने वाले हैं इसलिए ही आपको सुख भुगाने के लिए भी दुःख भुगाना पड़ता है। दुःखानुभव होने पर ही अच्छी तरह से सुख का आस्वादन किया जा सकता है। अतएव शास्त्र में कहा गया है—

अग्नेः शीतेन तोयस्य तृषा भक्तस्य च क्षुधा।
क्रियते सुखकर्तृत्वं तद्विलोमस्य चेतरैः॥

अर्थात् शीत ही अग्नि को सुखप्रद बनाता है तथा पिपासा और क्षुधा जल और अन्न को सुखदायक बनाते हैं, वैसे अग्नि इत्यादि

भी शीत इत्यादि को सुखप्रद बनाते है। भाव यह है कि शीतार्त पुरुष ही अग्नि से, पिपासित पुरुष ही जल से तथा क्षुधार्त पुरुष ही अन्न से सुख को प्राप्त करता है। शीत पीडा तथा भूख प्यास इत्यादि दुःख देने वाले हैं इनसे होने वाले दुःख के तारतम्य के अनुसार ही अग्नि इत्यादि से, तारतम्य से सुख प्राप्त होता है। इस विवेचन से फलित होता है कि दुःख ही सुख को मधुर बनाता है। दुःख दिये बिना आप सुख नही भुगा सकते। अतएव सुख भुगाने के लिये भी आपको प्रपन्नों को दुःख भुगाना पडता है क्योंकि सुख दुःख दोनो परस्पराश्रित है। इस प्रकार आप भजनीय समझकर अथवा हितावह समझकर दृप्त प्रपन्नो को दुःख भुगाते हैं। प्रारब्धानुसार होने वाले दुःख को नही रोकते। यही आपका दुःख भुगाने का प्रकार है। यह एक विलक्षण अनुग्रह है जो सब की समझ मे नही आता है ॥१४॥

(१५)

हेतुर्वर्गे विमर्शो भजनवदितरत् किं त्वनुष्ठानकाले
वेद्यत्वद्रूपभेदो विविध इह स तूपायतान्यानपेक्षा।
रङ्गिन् प्रारब्धभङ्गात् फलमधिकमनावृत्तिरुक्तोऽधिवस्त-
न्नाना शब्दादिभेदात् प्रपदनभजने सूचिते सूत्रकारैः॥

पूर्व श्लोक मे श्री देशिक स्वामी जी ने यह कहा कि श्रीभगवान् दृप्त प्रपन्नो को मिलने वाले दुःखों को जो नही रोकते हैं उसमे कुछ रहस्य है इस रहस्य का उद्घाटन पूर्व श्लोक में हुआ। इस श्लोक मे श्रीदेशिक स्वामी जी कई शंकाओं का समाधान करते हुए भक्तियोग से प्रपत्तियोग की विशेषता का वर्णन करते है। यहाँ ३ शंकायें होती है (१) भक्ति और प्रपत्ति में भेद क्यों माना जाता है ? (२) यदि प्रपन्नो के लिये प्रपत्ति उपाय है तो श्रीभगवान् को उपाय क्यों माना जाता है ? (३) भक्ति और प्रपत्ति में अन्तर क्या है ? इस श्लोक मे इन शंकाओं का परिहार है।

रङ्गिन् इतरद् वैधे विमर्शे भजनवद्धेतु प्रपत्तियोग भी भक्तियोग के समान उपाय है। श्री भगवान् ने गीता मे मुमुक्षु के प्रति **भजस्व माम्** (गी० अ० ६ श्लोक ३३) अर्थात् हमको भजो ऐसा कहकर भक्तियोग का विधान किया है अतएव भक्तियोग मोक्ष का उपाय माना जाता है। वैसे ही श्रीभगवान् ने गीता मे मुमुक्षु के प्रति **शरण व्रज** अर्थात् मेरे शरण मे आओ ऐसा कहकर शरणागति का विधान किया है। इस से सिद्ध होता है कि शरणागति मोक्ष का उपाय है। इस प्रकार विधि शास्त्र का विचार करने पर भक्ति की तरह प्रपत्ति भी मोक्ष का साधन सिद्ध होती है। यहाँ पर प्रश्न उठता है कि जिस प्रकार भक्तो के लिये भक्ति उपाय है, उसी प्रकार यदि प्रपन्नो के लिये प्रपत्ति उपाय है तो प्रपन्नो के लिये श्रीभगवान् को उपाय क्यो कहा जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर आगे दिया जाता है।

किं तु अनुष्ठानकाले वेद्यत्वरूपभेदो विविध इह स तु अन्यानपेक्षा उपायता यद्यपि विधि शास्त्र का विचार करते समय भक्ति और प्रपत्ति ये दोनों समान रूप से मोक्ष का उपाय सिद्ध होते है किंतु अनुष्ठान करते समय इनकी विशेषताये दृष्टिगोचर होती है। भक्तियोग को ब्रह्मविद्या कहते है। उपनिषदो मे ३२ प्रकार की ब्रह्मविद्यायें वर्णित हैं। प्रत्येक ब्रह्मविद्या मे ब्रह्म ही उपास्य है। सभी ब्रह्मविद्याओ मे उपास्य ब्रह्म एक होने पर भी उनमे भेद इसलिए माना जाता है कि किसी ब्रह्मविद्या मे किन्ही गुणो से युक्त ब्रह्म उपास्य है दूसरी ब्रह्मविद्या मे दूसरे गुणो से युक्त ब्रह्म उपास्य है। इस प्रकार उपास्य गुण भिन्न २ होने से ब्रह्मविद्याओ मे भेद सिद्ध होता है। सर्व गुणो से युक्त ब्रह्म का उपासन तो नही हो सकता क्योकि ब्रह्म के गुण अनन्त हैं, उपासक को गुणो का अनुसन्धान करते ही ब्रह्म का उपासन करना पडता है। उपासक सर्वज्ञ नही है, सर्व गुणो का अनुसन्धान उससे हो नही सकता, कतिपय गुण विशिष्ट ब्रह्म का ही वह उपासन कर सकता है। ब्रह्मविद्याओ मे भिन्न २ गुणो को लेकर ब्रह्म का उपासन करना पडता है। विविध गुणो मे भेद होने

से ब्रह्म का उपास्यरूप भी विविध बन जाता है प्रपत्तिविद्या में कौन से गुण से युक्त ब्रह्म का अनुसन्धान करना चाहिये ? यह बतलाया जाता है कि इह सदुपायतान्यानपेक्षा प्रपत्ति विद्या में "ब्रह्म निरपेक्ष उपाय है" इस प्रकार निरपेक्ष उपायत्व गुण को लेकर ब्रह्म का अनुसन्धान करना पड़ता है। परब्रह्म परमात्मा श्रीभगवान् सब को फल देते हैं। फल देने वाले होने के कारण वे इष्टसाधन माने जाते हैं। इष्ट साधन उपाय कहलाता है। भक्तियोगनिष्ठ साधकों को श्रीभगवान् मोक्ष देते हैं, अतएव श्रीभगवान् उनके लिये उपाय बनते हैं। उन लोगों ने भक्तियोग किया तदथ श्रीभगवान् उनको मोक्ष देते है इसलिये श्रीभगवान् उनके विषय में भक्तियोग की अपेक्षा करते हुए उपाय बनते हैं। अतएव उनके विषय में श्रीभगवान् को सापेक्ष उपाय कहा जाता है। श्रीभगवान् प्रपन्नों के विषय मे सीधे उपाय बनते है, *भक्तियोग की अपेक्षा न रखकर श्रीभगवान् प्रपन्नों को मोक्ष* देते है। अतएव कहा जाता है कि श्रीभगवान् प्रपन्नों के लिये भक्ति योग के स्थान मे स्वयं खड़े होकर फल देते है। उपायान्तरो के स्थान मे स्वयं खड़े होकर फल देते है। उपायान्तरो के स्थान में स्वयं निविष्ट होकर फल देने के कारण श्रीभगवान् प्रपन्नों के लिये उपाय बन जाते है न केवल उपाय बनते है निरपेक्ष उपाय भी बनते है, अर्थात् प्रपन्नों के ओर से कर्मयोग ज्ञानयोग और भक्तियोग की अपेक्षा न रखकर प्रपन्नो के फलदाता बनते है। उपायान्तरों की अपेक्षा न रखकर फलदाता बनना ही श्रीभगवान् का निरपेक्षोपायत्व है। इसका यह अथ नही कि श्रीभगवान् प्रपत्ति की भी अपेक्षा नहीं रखते। यदि श्रीभगवान् प्रपत्ति की अपेक्षा न रखकर फल देने वाले होते तो उन्हे सब को फल देना होगा। अन्यथा उनमे वैषम्यनैर्घृण्य दोष लग जायेंगे। इसलिये मानना पड़ता है कि श्रीभगवान् प्रपन्नो को फल देने मे प्रपत्ति की अपेक्षा अवश्य रखते है। प्रपत्ति की अपेक्षा रखने पर भी उपायान्तरों की अपेक्षा नहीं रखते हैं। इसलिये उन्हें निरपेक्ष उपाय कहा जाता है। यहाँ पर इस बात को निम्न

लिखित दृष्टान्त के द्वारा समझना चाहिये। एक राजा है, वह जनता मे भूमि को बांट रहा है। धनिकों के द्वारा अधिक से अधिक जितना धन मूल्य रूप मे चुकाया जा सके, उतने धन को उनसे मूल्य रूप मे लेकर राजा उन धनिको को भूमि प्रदान करते है। उस प्रसग मे एक अकिंचन अनन्यगतिक मनुष्य आकर अपनी अशक्ति का निवेदन करता हुआ विना मूल्य लिये ही केवल कृपा से ही अपने को भूमि देने के लिये प्रार्थना करता है उदार राजा उसकी दशा को देखते हुए इस प्रार्थनामात्र से प्रसन्न होकर विना कुछ लिये ही उसको भूमि देते हैं। वहाँ पर यह वात देखने में आतो है कि राजा अकिंचन जनता से कम से कम प्रार्थना की अपेक्षा अवश्य रखते है मूल्य की अपेक्षा नही रखते है अतएव वहाँ यह कहा जाता है कि राजा ने मूल्य निरपेक्ष हो कर अकिंचन को भूमि दी। वैसे ही प्रकृत मे राजा के स्थान मे श्रीभगवान् को मूल्य के स्थान मे भक्तियोग को धनिको के स्थान मे भक्तो को अकिंचन प्रजा के स्थान में शरणागतो की प्रार्थना के स्थान मे शरणागति को रखकर समझना चाहिये। साराश यह है कि शरणागति आवश्यक होने पर भक्तियोग के समान मोक्ष का मूल्य नही मानी जा सकती। आवश्यक होने के कारण शरणागति उपायान्तरो के समान उपाय मानी जाती है साथ ही मूल्य वनने की क्षमता न होने के कारण केवल व्याजमात्र वन जाती है। अकिंचन साधको के ओर से कर्मयोग आदि की अपेक्षा न रखकर प्रार्थनामात्र से प्रसन्न होकर फल देने के कारण ही श्रीभगवान् निरपेक्ष उपाय माने जाते हैं।

श्री देशिक स्वामो जी श्रीरङ्गनाथ भगवान् को स्तुति करते हुए कहते हैं कि हे श्रीरङ्गनाथ भगवान् ? विधिशास्त्र का विचार करने पर प्रपत्ति भी भक्ति की तरह मोक्ष का साधन सिद्ध होती है। इस प्रकार समता रहने पर भी अनुष्ठान काल मे उनमे भेद खुलता है। भक्तियोग नाम से पुकारी जाने वाली अन्यान्य ब्रह्मविद्याओ में उपास्य आपके अन्यान्य विविध गुण अनुसन्धेय होते हैं। प्रपत्ति नाम से पुकारी जाने वाली न्यासविद्या मे आपका निरपेक्षो-

पायत्वगुण अनुमेय होता है। अतएव आप प्रपन्नो के विषय में उपायान्तर की अपेक्षा न रखकर स्वयं ही उपाय बनकर फल देते हो।

इह प्रारब्धभङ्गाद् फलमधिकम् भक्ति की अपेक्षा प्रपत्ति मे यह विशेषता है कि प्रारब्ध को भी नष्ट करती है। भक्ति प्रारब्ध को नष्ट नहीं करती है किंतु संचित मात्र को नष्ट करती है। प्रपत्ति तो संचित और प्रारब्ध इन दोनों प्रकार के कर्मों को नष्ट करती है। अतएव शास्त्र में कहा गया है कि

उपायभक्ति प्रारब्धव्यतिरिक्ताघनाशिनी।
साध्यभक्तिस्तु सा हन्त्री प्रारब्धस्यापि भूयसी॥

अर्थात् उपायभक्ति और भक्तियोग प्रारब्ध व्यतिरिक्त संचित कर्मों को नष्ट करता है साध्यभक्ति और प्रपत्तियोग प्रारब्ध को भी नष्ट करता है। प्रपत्तियोग आर्तप्रपन्नों के संपूर्ण प्रारब्ध को नष्ट करता है तथा दृप्त प्रपन्नो के विषय मे उतने प्रारब्ध को नष्ट करता है जितने का नाश दृप्त प्रपन्न चाहते है। इस प्रकार प्रारब्ध नाशकत्व प्रपत्ति की विशेषता है। इससे ही प्रपत्ति अधिक फलप्रद मानी जाती है।

इहोदितवचनावलिरुक्ता प्रपत्ति मे दूसरी विशेषता भी है। भक्तियोग मे आवृत्ति की आवश्यकता है प्रपत्ति मे आवृत्ति अनावश्यक है। भाव यह है कि भक्तियोग निष्ठ साधकों को भक्तियोग को प्रतिदिन करना चाहिये। श्रुति कहती है कि स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते जो साधक इस प्रकार आयुपर्यन्त प्रतिदिन भक्तियोग की आवृत्ति करता रहेगा वही ब्रह्मलोक अर्थात् परब्रह्म श्रीभगवान् के वैकुण्ठ लोक पहुँचता है। इससे सिद्ध होता है कि भक्तियोग निष्ठ साधकों को प्रतिदिन भक्तियोग की आवृत्ति करना चाहिये। प्रपत्ति के विषय मे शास्त्र मे कहा गया है कि सकृदेव हि शास्त्रार्थः कृतोऽयं तारयेन्नरम् अर्थात् यह प्रपत्ति—जो शास्त्र की प्रतिपाद्य वस्तु है—एक ही बार करने पर पुरुष को संसार का पार लगा देगी। विभीषणशरणागति मे श्रीभगवान् की यह सूक्ति प्रसिद्ध है कि—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभय सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रत मम ॥

अर्थात् जो एक बार ही मेरी शरण मे आया हो तथा यह मागता हो कि मै आपका होकर रहूँ उसको मै सर्वभूतो से अभय दे देता हूँ अर्थात् उसे किसी प्राणी से भी डरना न पडे ऐसा मै कर देता हूँ, यह मेरा व्रत है इससे सिद्ध होता है कि एकवार ही शरणागति करनी चाहिये जैसे फलार्थ याग एकवार किया जाता है। इस विवेचन से उपायान्तर एव शरणागति मे यह विशेप सिद्ध होता है कि अन्यान्य उपाय आवृत्ति की अपेक्षा रखते है, शरणागति आवृत्ति की अपेक्षा नही रखती ।

सूत्रकारे. प्रपदनभजने शब्दादिभेदात् नाना सूचिते ब्रह्मसूत्रकार ने इस बात को सूचित किया है कि भक्तियोग और प्रपत्तियोग भिन्न भिन्न उपाय है । उपनिपदो मे मोक्षप्राप्त्यर्थ अनेक ब्रह्मविद्याओ का विधान है उनमे न्यासविद्या एक है, यही शरणागति कहलाती है । अन्यान्य ब्रह्मविद्याये भक्तियोग शब्द से व्यवहृत होती है । श्री वेदव्यास जी ने ब्रह्मसूत्र के तृतीयाध्याय तृतीय पाद मे **नाना शब्दादि-भेदात्** इस सूत्र का निर्माणकर ब्रह्मविद्याओ मे भेद को सिद्ध किया है । उस अधिकरण मे विवेचन इस प्रकार है कि उपनिषदो मे वर्णित ब्रह्मविद्यायें भिन्न २ हैं या एक हैं । पूर्वपक्षी ने कहा कि विभिन्न उपनिषदो मे वर्णित ब्रह्मविद्याये एक ही हैं, एक ही ब्रह्म-विद्या का सभी उपनिपदो मे वर्णन है । जब उनके नाम फल रूप एव विधायक शब्द मे एकता है, तब उनमे भी ऐक्य ही मानना चाहिये । पूर्व मीमासा मे भी **एक वा सयोगरूपचोदनाख्याविशेषात्** इस सूत्र से उपर्युक्त चार बातो मे ऐक्य होने पर कर्म मे ऐक्य माना गया है । मोक्ष साधन का विधान करने वाले **विद्यात् उपासीत निदिध्यासितव्य स्मरेत्** और **भजस्व** इत्यादि शब्द पर्याय माने गये है । इससे सिद्ध होता है ब्रह्मविद्याओ के विधायक शब्दो मे एकता है । सब ब्रह्मविद्याओ का ब्रह्मविद्या नाम है । इससे नाम

मे ऐक्य सिद्ध होता है। सब ब्रह्मविद्याओं मे ब्रह्म ही उपास्य है। इससे रूप मे ऐक्य सिद्ध होता है। सब ब्रह्मविद्याओ का फल ब्रह्म प्राप्ति ही है। इससे फल में भी एकता सिद्ध होती है। इस प्रकार चारों बातों मे एकता होने के कारण ब्रह्मविद्याओं म ऐक्य मानना चाहिये। यह पूर्व पक्ष है। इस पूर्व पक्ष का निराकरण करते हुए व्यास जी ने नाना शब्दादिभेदात् इस सूत्र से यह सिद्ध किया है कि शब्द आदि मे भेद होने के कारण ब्रह्मविद्याओं में भेद सिद्ध होता है। यहां व्यास जी ने जिन कारणो से ब्रह्मविद्याओ मे भेद को सिद्ध किया है उन कारणो से भक्तियोग और शरणागतियोग म भेद सिद्ध होता है। वेद उपासीत इत्यादि शब्दा से भक्तियोग का विधान है, शरणं व्रज इत्यादि शब्दो से शरणागति का विधान है। विधायक शब्द भिन्न होने के कारण भक्तियोग और शरणागति उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार विधायक शब्द भेद के कारण याग, दान और होम भिन्न होते है। यहां न केवल शब्दभेद स ही भेद सिद्ध होता है, किन्तु गुणभेद, प्रकरणभेद, नामभेद अधिकारिभेद एव परिकरभेद से भी भेद सिद्ध होता है। अनुसन्धेय आकार गुण कहा जाता है अन्यान्य ब्रह्मविद्याओं मे श्रीभगवान के अपहतपाप्मत्व इत्यादि कल्याणगुण अनुसन्धेय है शरणागति मे निरपेक्षोपायत्व अनुसन्धेय है। इस प्रकार गुणभेद सिद्ध होता है। अन्यान्य ब्रह्मविद्याये तथा शरणागति विभिन्न प्रकरणो मे वर्णित है। अत इनमे प्रकरणभेद सिद्ध होता है। अन्यान्य ब्रह्मविद्याओ के सद्विद्या दहरविद्या इत्यादि नाम है शरणागति का न्यासविद्या ऐसा नाम है। इस प्रकार नाम मे भी भेद है। अन्यान्य ब्रह्मविद्याओ मे शक्त साधक अधिकारी है शरणागति मे अशक्त अधिकारी है। इस प्रकार अधिकारी भी भिन्न है। अन्यान्य ब्रह्मविद्याओ का अग यज्ञ आदि है। शरणागति का अङ्ग आनुकूल्यसंकल्प इत्यादि है। इस प्रकार परिकर भी भिन्न है। इन भेदसाधक प्रमाणो से भक्तियोग एव शरणागति मे भेद सिद्ध होता है। सूत्रकार ने इस बात को नाना शब्दादिभेदात् इस सूत्र से सिद्ध किया है। इस श्लोक से

श्रीदेशिक स्वामी जी ने प्रमाणो से भक्ति और प्रपत्ति मे भेद को सिद्ध किया तथा इन दोनो उपायो मे विद्यमान विशेषताओ का भी वर्णन किया साथ ही प्रपन्नो के प्रति श्रीभगवान की उपायता तथा शरणागति की उपायता के रहस्य को भी खोला। उपर्युक्त बातो पर प्रकाश डाल कर श्रीदेशिक स्वामी जी ने अवतारिका मे वर्णित शकाओ का निराकरण किया है ॥१५॥

(१६)

भक्तौ रङ्गपते यथा खलु पशुच्छागादिवद्वेदन—
ध्यानोपासनदर्शनादिवचसामिच्छन्त्यभिन्नार्थताम् ।
व्यक्त्यैवयाच्छरणागतिप्रपदनत्यागात्मनिक्षेपण—
न्यासाद्येषु तथैव तन्त्रनिपुणैः पर्यायता स्मर्यते ॥

पूर्व श्लोको मे श्रीदेशिक स्वामी जी ने भक्तियोग एव प्रपत्ति-योग में भेद को सिद्ध करके बतलाया है कि ये दोनो ही मोक्ष के साक्षात् साधन है इन दोनो मे किसी को अपनाये बिना मोक्ष नही प्राप्त हो सकता। यहाँ पर यह शङ्का उठती है कि इन दोनो को ही मोक्षसाधन मानना उचित नही, त्याग और समर्पण इत्यादि को भी मोक्षसाधन मानना चाहिये क्योकि वे भी मोक्षसाधन के रूप मे शास्त्रो मे विहित हैं। इस शका का समाधान करते हुए श्रीदेशिक स्वामी जी इस श्लोक से दृष्टान्तप्रतिपादनपूर्वक सिद्ध करते हैं कि शरणागति प्रपदन न्यास निक्षेप और समर्पण इत्यादि शब्दो से भिन्न २ उपाय नही बतलाये जाते है किन्तु इन शब्दो से एक ही उपाय बतलाया है। एक उपाय व्यक्ति को बतलाने वाले ये शब्द पर्याय है। इसमे श्रीभाष्य वर्णित सिद्धान्त दृष्टान्त माना जा सकता है।

हे रङ्गपते पशुच्छागादिवद् वेदनध्यानोपासनदर्शनादिवचसा भक्तावभिन्नार्थतामिच्छन्ति हे श्रीरङ्गनाथ भगवन्! उपनिषदो मे विभिन्न शब्दो से मोक्षसाधन वर्णित है कही वेदन अर्थात् ब्रह्मज्ञान

मोक्षसाधन कहा गया है। अन्यत्र ध्यान अर्थात् ब्रह्मध्यान मोक्ष साधन कहा गया है। कहीं ध्रुवानुस्मृति मोक्षसाधन कही गई है। किसी उपनिषद् में उपासन मोक्षसाधन बतलाया गया है। कहीं पर ब्रह्म का दर्शन मोक्षसाधन कहा गया है। श्रीभगवद्गीता में भक्ति मोक्षसाधन कही गई है। यहाँ पर शंका उठती है कि क्या यहाँ सर्वत्र एक ही पदार्थ मोक्षसाधन बतलाया गया है या भिन्न भिन्न पदार्थ मोक्षसाधन बतलाये गये हैं। इस शंका का समाधान करते हुए श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने श्री भाष्य में यही सिद्ध किया है कि इन शब्दों से एक ही अर्थ मोक्षसाधन बतलाया गया है। इस अर्थ को श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने अनेक न्यायों से सिद्ध किया है। वे न्याय ये हैं कि (१) यदि इन शब्दों से विभिन्न पदार्थ मोक्षसाधन बतलाये जायँ तो यह विरोध उपस्थित हो जायगा। वेद में कहा गया है कि तमेव विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय अर्थात् इस प्रकार श्रीभगवान् को समझने वाला मुक्त होता है ज्ञान के सिवाय दूसरा कोई मोक्ष का साधन नहीं है। श्रीमद्गीता में श्रीभगवान ने कहा कि—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

अर्थात् मैं अध्यापन प्रवचन अध्ययन श्रवण एवं जप का विषय बनने वाले वेद याग दान होम और तपस्या से इस प्रकार नहीं देखा जा सकता जिस प्रकार तू ने देखा। यदि ये साधन भक्तिरहित होते तो इनसे मैं देखा नहीं जा सकता। अनन्य भक्ति होने पर ही मैं शास्त्रों से अच्छी तरह से जाना जा सकता हूँ यथार्थ रीति से साक्षात्कृत हो सकता हूँ तथा अनन्य भक्ति से ही यथार्थ रीति से मुझ में प्रवेश पाया जा सकता है। यह गीतावचन बतलाता है कि श्रीभगवद्भक्ति ही मोक्षसाधन है, भक्ति को छोड़कर दूसरा कोई मोक्षसाधन नहीं है। उपर्युक्त उपनिषद्वचन बतलाता है कि ज्ञान

ही मोक्षसाधन है, दूसरा कोई नही ' यदि ज्ञान और भक्ति भिन्न भिन्न पदार्थ होते तो इन वचनो मे विरोध उपस्थित होगा । भक्ति-व्यतिरिक्त बनने वाले ज्ञान के मोक्षसाधनत्व का निषेध गीता से फलित होगा तथा ज्ञान से व्यतिरिक्त बनने वाली भक्ति के मोक्ष-साधनत्व का निषेध उपनिषद्वचन से फलित होगा । ऐसा होने पर इन वचनो मे विरोध अवश्य उपस्थित होगा । यह विरोध वाञ्छनीय नही है । अत मानना होगा कि भक्ति और ज्ञान एक ही पदार्थ है, उस एक पदार्थ को ही विभिन्न शब्दो से मोक्षसाधन कहा गया है । (२) दूसरा न्याय यह है कि ज्ञान ध्यान उपासन ध्रुवानुस्मृति दर्शन एव भक्ति को भिन्न भिन्न पदार्थ मानकर इनको अलग अलग मोक्ष-साधन यदि माना जाय तब अनेक मोक्षसाधन सिद्ध होगे । यह उचित नही है क्योकि इसमे गौरवदोष होगा । जहाँ तक बने एक वस्तु को मोक्षसाधन मानना ही अच्छा है क्योकि इसमे लाघव है । किंच इनको पृथक् पृथक् मोक्षसाधन मानने पर इनमे विकल्प उपस्थित होगा क्योकि ये एक ही मोक्ष को देने वाले है, इनमे किसी एक को अपनाना ही पर्याप्त होगा । ऐसी स्थिति मे इनमे कठिन बनने वाले साधन को कोई भी साधक अपनाएगा नही, इनमे ज्ञान सरल है, ज्ञान से ध्यान एवं उपासन कठिन है, इनसे ध्रुवानुस्मृति कठिन है, उससे भी दर्शन कठिन है । सभी साधक सरल साधन ज्ञान मे प्रवृत्त होगे, ध्यान आदि कठिन साधनो मे कोई भी प्रवृत्त नही होगा । ऐसी स्थिति में उन कठिन साधनो का विधान करने वाले शास्त्र व्यर्थ हो जायेंगे । अत मानना होगा कि इन शब्दो से भिन्न भिन्न साधन वर्णित नही है किन्तु एक ही साधन विभिन्न शब्दो से वर्णित है । (३) तीसरा न्याय यह है कि उपनिषदो मे किसी किसी ब्रह्मविद्या के आरम्भ मे कहा गया है कि ब्रह्मज्ञान मोक्षसाधन है, उन्ही उपनिषदो मे उसी ब्रह्मविद्या के उपसहार मे कहा गया है कि ब्रह्म का उपासन मोक्षसाधन है । कई उपनिषदो मे ब्रह्मविद्या के आरम्भ मे कहा गया है कि ब्रह्म का उपासन मोक्ष-साधन है उन्ही उपनिषदो मे ही उसी ब्रह्मविद्या के उपसहार मे

कहा गया है कि ब्रह्मज्ञान मोक्षसाधन है। प्रारम्भ में वर्णित अर्थ का ही उपसंहार में भी वर्णन होना न्यायप्राप्त है। प्रारम्भ में किसी का उल्लेख कर अन्त में दूसरे का उल्लेख करना न्यायविरुद्ध है। इस दृष्टि से विचारने पर सिद्ध होता है कि ब्रह्मज्ञान एवं ब्रह्मोपासन एक ही वस्तु है, वह एक वस्तु ज्ञान भी कही जा सकती है तथा उपासन भी कही जा सकती है। (४) चौथा न्याय यह है कि पूर्व मीमांसा में छागपशुन्याय वर्णित है उसके अनुसार विचार करने पर सिद्ध होता है कि ज्ञान उपासन ध्यान ध्रुवानुस्मृति दर्शन एवं भक्ति ये शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं। उस न्याय का विवरण इस प्रकार है कि वेद में पशुना यजेत यह कह कर पशु से याग करने को कहा गया है। चार चरणवाले प्राणी पशु कहलाते हैं। उनमें किससे याग करना चाहिये ? ऐसी जिज्ञासा होना सहज है। वैदिक मन्त्र में छागस्य वपाया कहकर छाग का अर्थात् बकरे का उल्लेख है। पशु शब्द सामान्यवाचक है क्यों चार चरण वाले सभी प्राणी पशु कहे जाते हैं। छाग शब्द विशेष वाचक है क्यों कि वह बकरे को ही बतलाता है। सामान्य का विशेष में पर्यवसान होना उचित है। इससे सिद्ध होता है कि एक ही छाग सामान्यवाचक पशु शब्द से तथा विशेष वाचक छाग शब्द से बतलाया गया है। इसे ही छागपशुन्याय कहते हैं। इस न्याय के अनुसार विचार करने पर मानना पड़ता है कि ज्ञान ध्यान ध्रुवानुस्मृति दर्शन एवं भक्ति में सामान्य विशेष भाव होने के कारण एक ही साधन इन सामान्य शब्दों से बतलाया गया है। सभी ज्ञान ज्ञान कहे जा सकते हैं उन ज्ञानों में निरन्तर होने वाले ज्ञान ही ध्यान कहे जाते हैं उनमें कभी भी न टूटने वाली स्मृति ही ध्रुवानुस्मृति कहलाती है ये स्मरण प्रत्यक्ष के समान विशद रूप को धारण करने पर दर्शन कहे जाते हैं तथा प्रीति रूप होने पर भक्ति कहलाते हैं। इस प्रकार इनमें सामान्य विशेष भाव है। इससे फलित होता है कि एक ही साधन कहीं कहीं पर सामान्य रूप से बतलाया गया है, कहीं कहीं पर विशेष रूप से बतलाया गया है। श्री देशिक स्वामी जी कहते हैं कि हे

श्रीरगनाथ भगवन् ! जिस प्रकार छागपशुन्याय इत्यादि न्यायो के अनुसार विचारने पर विद्वद्गण ज्ञान उपासन ध्यान दर्शन एव भक्ति इत्यादि शब्दो को एकार्थवाचक मानते है, उसी प्रकार मीमासा-शास्त्रज्ञ विद्वानों ने शरणागति प्रपदन त्याग आत्मनिक्षेप और न्यास इत्यादि शब्दो को भी एकार्थवाचक ही माना है। इन शब्दो से एक ही साधन वर्णित है भिन्न भिन्न साधन नही। ज्ञान ध्यान उपासन दर्शन और भक्ति इन शब्दो मे से शरणागति प्रपदन त्याग आत्म निक्षेप और न्यास शब्द में यही अन्तर है कि ज्ञान आदि शब्द सामान्यविशेषभाव से एक ही अर्थ का प्रतिपादन करते है, शरणागति आदि शब्द विना ही सामान्यविशेषभाव के एक ही व्यक्ति का प्रतिपादन करते है। इससे इनमे एकार्थवाचकत्व अत्यन्त सुदृढ होता है। महर्षियो ने भी इस अर्थ का वर्णन किया है। श्रीपाञ्चरात्र सहिता लक्ष्मी तन्त्र मे कहा गया है कि—

निक्षेपापरपर्यायो न्यास. पञ्चाङ्गसयुत ।
सन्यासस्त्याग इत्युक्त. शरणागतिरित्यपि ॥

अर्थात् निक्षेप शब्द से कहा जाने वाला पाँचो अगो से युक्त न्यास ही सन्यास त्याग और शरणागति शब्द से अभिहित होता है। इस भाव को लेकर श्री देशिक स्वामी जी इस श्लोक के उत्तरार्ध मे कहा है कि **तथैव तन्त्रनिपुणै शरणागतिप्रपदनत्यागात्मनिक्षेपणन्यासाद्येषु व्यक्त्यैक्यात् पर्यायता स्मर्यते ॥१६॥**

(१७)

विश्वासायासभूम्ना न्यसनभजनयोर्गौरवे को विशेष—

म्तत्सद्भावेऽपि धर्मान्तर इव घटते कर्तृभेदाद्विकल्पः ।
तद्भेदो रङ्गशायिन्ननितरगतिताद्युत्थशोकातिरेकात् ।
सद्विद्यादौ विकल्पस्त्वभिमतिभिदया तेन तत्रैकराश्यम् ॥

पूर्व श्लोक मे श्रीदेशिक स्वामी जी ने कहा है कि मोक्षसाधन को बतलाने वाले ज्ञान ध्यान उपासन दर्शन ध्रुवानुस्मृति और भक्ति

इत्यादि शब्द भिन्न भिन्न अर्थ के वाचक न होकर एक भक्तियोग के ही वाचक बनते है तथा शरणागति प्रपदन न्यास आत्मनिक्षेप और न्यास इत्यादि शब्द भी विभिन्न अर्थों के वाचक न होकर एक शरणागति के ही वाचक होते है। इससे सिद्ध होता है कि भक्तियोग और शरणागति ये दोनों ही साक्षात् मोक्ष देने वाले साधन हैं। शास्त्रों में मोक्षसाधन को बतलाने के लिये प्रयुक्त शब्द इन दोनों साधनों मे किसी एक को बतलाते हैं श्रीभगवान ने स्पष्ट कहा है कि—

भक्त्या परमया वापि प्रपत्त्या वा महामुने ।
प्राप्योऽहं नान्यथा प्राप्यो मम कैङ्कर्यलिप्सुभिः ॥

अर्थात् हे महामुने ! मै परम भक्ति अथवा प्रपत्ति से प्राप्य हो सकता हूं, मेरा कैङ्कर्य चाहने वाले साधकों को मै दूसरे किसी उपाय से प्राप्य नही हो सकता। इस श्लोक में श्री देशिक स्वामी जी इन दोनों साधनों मे व्यवस्थित विकल्प का वर्णन करते है।

विश्वासायासभूम्ना व्यसनभजनयोर्गौरवे को विशेष भक्तियोग और प्रपत्तियोग एक ही मोक्षफल को देनेवाले साधन हैं। इन दोनों मे किसी एक को अपनाने पर मोक्ष प्राप्त हो सकता है दोनों को अपनाने की आवश्यकता नही। इसलिये इन दोनों साधनों में विकल्प माना जाता है। विकल्प का अर्थ यही है कि एक ही फल देने वाले साधनो मे किसी एक का अपनाना ही पर्याप्त है। यहाँ पर यह शङ्का उठती है कि इन दोनो मे सम विकल्प मानना उचित है या व्यवस्थित विकल्प मानना उचित है ? एक फल देने वाले जिन साधनो मे बिना अधिकारभेद के विकल्प माना जाता है, वहाँ सम विकल्प होता है। अर्थात् अमुक अधिकारी अमुक साधन कर इस प्रकार अधिकारी भेद के बिना ही जिन एकफल साधनो मे किसी एकको अपनाने के लिये खुली छूट दी जाती है, उन साधनो मे सम विकल्प माना जाता है। एक फल देने वाले होने पर भी जिन साधनो के विषय मे यह व्यवस्था रहे कि अमुक अधिकारी ही अमुक साधन करें उन साधनो मे व्यवस्थित विकल्प माना जाता है।

यहाँ पर यह जिज्ञासा होती है कि मोक्ष देने वाले भक्तियोग और प्रपत्तियोग मे समविकल्प है या व्यवस्थित विकल्प। उत्तर यह है कि इनमें व्यवस्थित विकल्प होता है अर्थात् अमुक अधिकारी अमुक साधन अपनावें ऐसी यहाँ व्यवस्था मानी जाती है। इस प्रकार व्यवस्था मानने पर ही साधनो को अधिकारी प्राप्त होगे। अन्यथा कठिन साधन के लिये अधिकारी मिलना असभव हो जायगा। एक दृष्टि से विचार करने पर सिद्ध होता है कि इनमें भक्तियोग कठिन है तथा प्रपत्तियोग सरल है क्योकि भक्तियोग की आवृत्ति प्रति दिन करनी होगी, वह भी मरणपर्यन्त करनी होगी, यहाँ तक मरते समय में भी श्री भगवान् के विषय में अन्तिम स्मरण करना होगा। प्रपत्तियोग जीवन मे एक ही बार करने का है, इसमे अपने प्रयत्न से अन्तिम स्मरण करने की आवश्यकता नही है। भक्तियोग वर्णाश्रमधर्म यज्ञ दान तपस्या और शमदम इत्यादि उन अगो की अपेक्षा रखता है जिन्हे मरणपर्यन्त करना पड़ता है, प्रपत्तियोग क्षणकालसाध्य आनुकूल्यसकल्प इत्यादि पाँच अगो की ही अपेक्षा रखता है। इस दृष्टि से विचार करने पर सिद्ध होता है कि भक्ति-योग दुष्कर होने से कठिन है तथा प्रपत्तियोग सुकर होने से सरल है। कठिन भक्तियोग से भी मोक्ष प्राप्त होगा तथा सरल प्रपत्ति से भी मोक्ष प्राप्त होगा। यहाँ पर यदि यह निर्णय दिया जाय कि कोई भी मुमुक्षु साधक किसी भी साधन को अपनावे तब तो सभी मुमुक्षु साधक सरल साधन को ही अपनाने में प्रवृत्त होगे कोई कठिन साधन में प्रवृत्त होने के लिये तैयार नही होगा ऐसी स्थिति मे कठिनोपाय भक्तियोग का विधान करने वाले शास्त्र निरर्थक हो जायँगे। शास्त्र निरर्थक न हो तदर्थ मानना पडता है कि ये दोनो साधन भिन्न भिन्न अधिकारियो को कर्तव्य हैं, उन उन अधिकारियो के द्वारा किये जाने पर ही वे लाभदायक होगे। उन साधनो को करने वाले अधिकारी व्यवस्थित होने के कारण उनमे व्यवस्थितविकल्प ही सिद्ध होता है तथा उन उन अधिकारियों के लिये उन उन साधनो का विधान करने वाले शास्त्र भी सफल होगे।

यहाँ पर एक प्रश्न उठता है जिसका उल्लेख इस श्लोक के प्रथम पाद में किया गया है वह यह है—

हे रङ्गशायिन् विश्वासायाससुम्ना -यसनभजनयोर्गौरवे को विशेषः हे रङ्गनाथ भगवन् ! कई विद्वानों का यह मत है कि भक्ति और प्रपत्ति ये दोनों ही कठिन हैं इनमें कोइ भी सरल नही है। भक्तियोग में अधिक परिश्रम की आवश्यकता है मरणपर्यन्त प्रति दिन आवृत्ति करते रहने पर ही भक्तियोग सधता है। इसलिये मानना पड़ता है कि भक्तियोग कठिन उपाय है। प्रपत्तियोग मे इस प्रकार की कठिनता न होने पर भी दूसरे प्रकार की कठिनता है। प्रपत्ति मे महाविश्वास की आवश्यकता है। श्रीभगवान अवश्य रक्षा करेंगे ऐसा महाविश्वास प्रपत्ति मे अपेक्षित है। ऐसा महा विश्वास सब को नही होता है। इस दृष्टि से प्रपत्ति भी कठिन ही सिद्ध होती है। इन दोनो मे किसी को सरल तथा किसी को कठिन कहना उचित नही है दोनों को ही कठिन मानना चाहिये। इस प्रकार कई विद्वानो के मत को प्रथम चरण से उपस्थापित कर श्री देशिक स्वामी जी विवेचना पूर्वक निर्णय देते हुए कहते है कि—

तत्सद्भावेऽपि धर्मान्तरे इव कत भेदाद्विकल्पो घटते ।

भाव यह है कि यहाँ पर भक्ति और प्रपत्ति इन दोनों उपायों को कठिन कहने वाले विद्वानो का क्या अभिप्राय है ? इस पर विचार करना होगा। यदि उनका यह अभिप्राय है कि दोनो उपाय कठिन है कोई भी मुमुक्षु किसी को भी अपना सकता है इनमे यह अधिकारिव्यवस्था नही है कि अमुक साधक ही अमुक साधन को अपनावे तो कहना पड़ता है कि उनका अभिप्राय असगत है क्योंकि शास्त्रो से यह व्यवस्था सिद्ध होती है कि अकिंचन अर्थात् उपायान्तर हीन साधक ही शरणागति कर सकते हैं। पाञ्चरात्र अहिर्बुध्न्य संहिता मे एक वचन है, जिसका उद्धरण पूर्वाचार्य बारबार देते रहते है, उससे यही प्रमाणित होता है कि अकिंचन साधक ही शरणागति करे। वह वचन यह है कि—

अहमस्म्यपराधानामालयोऽकिञ्चनोऽगति ।
त्वमेवोपायभूतो मे भवेतिप्रार्थना मति ॥

अर्थात् साधक श्रीभगवान् से प्रार्थना करता है कि हे श्रीभगवन् मैं अपराधो का वासस्थान हूँ, अकिंचन हूँ अर्थात् उपायान्तर से सर्वथा रहित हूँ तथा अनन्यगति हूँ अर्थात् श्रीभगवत्प्राप्ति को छोड़ कर दूसरे किसी फल को चाहने वाला नही हूँ। आप ही मेरे लिये कृपया उपाय बन जाइये। यह प्रार्थनात्मक ज्ञान ही शरणागति कहलाता है। श्रीभगवान् के विषय मे इस शरणागति का प्रयोग करना चाहिये। इस वचन को ध्यान मे रखकर श्रीयामुनाचार्य स्वामी जी ने भी स्तोत्ररत्न में कहा है कि—

अकिंचनोऽनन्यगतिः शरण्यस्त्वत्पादमूल शरण प्रपद्ये ।

अर्थात् हे शरण देने वाले श्री भगवन् अकिंचन अनन्यगति मै आपके चरणारविन्द के शरण मे आता हूँ। इन प्रमाण वचनो से सिद्ध होता है कि उपान्तर करने की योग्यता रखने वाले साधक भक्तियोग इत्यादि उपायान्तर करे तथा उपायान्तररहित साधक शरणागति करे। इस विवेचन से फलित होता है कि इनमे अधिकारी व्यवस्थित है। कोई भी साधक इनमे किसी को अपनावे, आपत्ति नही है, ऐसा मानना अनुचित है।

यदि भक्ति और प्रपत्ति इन दोनों उपायों को कठिन कहनेवालो का यह कहने मे अभिप्राय है कि अधिक विश्वास वाले शरणागति करें, अधिक परिश्रम करने मे समर्थ साधक भक्तियोग करे तो इससे अधिकारिव्यवस्था ही फलित होगी। परन्तु इस व्यवस्था मे एक बाधक है उस पर ध्यान देना होगा। वह बाधक यह है कि उपर्युक्त प्रकार से अधिकारिव्यवस्था मानने पर यह फलित होगा कि अधिक परिश्रम करने मे असमर्थ होने पर भी जो साधक श्रीभगवान् मे महान् विश्वास रखते हैं, वे शरणागति के अधिकारी है तथा श्रीभगवान् मे कम विश्वास रखने वाले साथ ही अधिक परिश्रम करने में समर्थ साधक भक्तियोग के अधिकारी है इस व्यवस्था मे

यही दोष है कि यह व्यवस्था सर्वत्र लागू नहीं हो सकती क्योंकि अध्यात्मशास्त्र के प्रवर्तक श्री वेदव्यास आदि महर्षिगण श्रीभगवान् मे पूर्ण विश्वास रखते हुए भी भक्तियोग ही करते थे। इसलिये यह व्यवस्था—कि न्यूनविश्वास वालों को ही भक्तियोग में अधिकार है अधिक विश्वास वालों को शरणागति में अधिकार है—असंगत सिद्ध होती है। अतः यहाँ पर दूसरे प्रकार से ही अधिकारि व्यवस्था मानना चाहिये। जिस प्रकार ब्रह्मविद्या नाम से पुकारी जानेवाली विद्याओं म समानरूप से कठिनता होने पर भी मधुविद्या में उन साधकों को ही अधिकार है जो वसु आदि के पद को प्राप्त कर बाद में परब्रह्म को प्राप्त करना चाहते है, पञ्चाग्निविद्या म ब्रह्मात्मक परिशुद्ध-स्वात्म स्वरूप प्राप्ति को चाहनेवालो का अधिकार है इस प्रकार समान कोटि की ब्रह्मविद्याओं में विभिन्न साधकों का ही अधिकार माना जाता है, उसी प्रकार भक्ति और प्रपत्ति में विश्वास और आयास की महत्ता की आवश्यकता को देखने पर समान रूप से कठिनता सिद्ध होने पर भी अधिकारिभेद से व्यवस्था माननी होगी। अधिकारिभेद को किस प्रकार मानना चाहिये ? इस पर प्रकाश डालते हुए सर्वतन्त्रस्वतन्त्र श्री देशिक स्वामी जी निर्णय देते है कि—

अनितरगतिताद्यत्वशोकातिरेकात्तद्भेद चाहे भक्ति और प्रपत्ति में इस प्रकार वैषम्य हो कि भक्ति कठिन है तथा प्रपत्ति सरल है चाहे इनमे समान रूप से कठिनता हो क्योंकि भक्ति म अधिक आयास की आवश्यकता है प्रपत्ति में अधिक विश्वास की आवश्यकता है तो भी इनमें अधिकारिभेद अवश्य मानना होगा, क्योंकि शास्त्र मे यह वर्णित है। वह अधिकारिभेद इस प्रकार है कि भक्तियोग करने के लिये पर्याप्त ज्ञान पर्याप्त शक्ति एवं त्रैवर्णिक जन्म ये तीनों योग्यता जिन म हो, भक्तियोग विलम्ब से फल देने वाला होने के कारण जिनको विलम्ब से फल प्राप्त करने की इच्छा हो वे ही भक्तियोग के अधिकारी है इन चार विशेषताओं से सपन्न साधकों को ही भक्तियोग करना चाहिये। जिन साधको में इन चार

विशेषताओ मे एक न हो, या दो न हो, अथवा तीन न हो, यद्वा चारो ही न हो, वे सब महाविश्वास सपन्न होने पर प्रपत्ति का अधिकारी है, भक्तियोग का अनुष्ठान करने के लिये पर्याप्त ज्ञान और शक्ति से सपन्न होने पर भी जो साधक शीघ्र मोक्ष फल चाहते हैं अर्थात् विना प्रारब्ध को भोगे ही शीघ्र श्री भगवान् को प्राप्त करना चाहते हैं उन्हे भी शरणागति ही करनी चाहिये। जो शीघ्र श्री भगवान् को प्राप्त करने के लिये लालायित हो उनको शरणागति ही उपाय है क्योकि शरणागति ही प्रारब्ध को भी नष्ट कर शीघ्र मोक्ष दे सकती है, भोग के द्वारा प्रारब्ध नष्ट होने पर ही भक्तियोग मोक्ष देने की योग्यता रखता है। शक्त्यभाव ज्ञानाभाव त्रैवर्णिक-जन्माभाव एव विलम्ब सहन इनमें से किसी भी निमित्त के कारण जो साधक उपायान्तर मे हाथ डालने योग्य न रह गये, अतएव उपायान्तर ही बन गये है साथ ही श्रीभगवत्प्राप्ति को छोडकर दूसरे किसी फल को नही चाहते है, ऐसे साधको को—जो तीव्र मोक्षेच्छा होने पर भी उपायान्तर के योग्य न रहने से अतिमात्र शोक से व्याकुल है—शरणागति मे अधिकार है। श्रीवेदव्यास इत्यादि महर्षिगण श्री भगवान् मे पूर्ण विश्वास होने पर भी भक्तियोग का ही अनुष्ठान करते थे, इसका कारण यह है कि उनमे भक्तियोग करने के लिये अपेक्षित ज्ञान शक्ति और ब्राह्मण जन्म ये विशेषतायें विद्यमान थी, साथ ही वे आधिकारिक पुरुष होने के कारण विलम्ब से हो मोक्ष चाहते थे। श्रीभगवान् ने उनको इस ब्रह्माण्ड मे उन उन अधिकार पदो पर नियुक्त कर रक्खा है, अधिकार के अवसान में ही उन्हे मोक्ष प्राप्त करना होगा। इस विवेचन से सिद्ध होता है किसी भी कारण से हो जो साधक उपायान्तर शून्य होने के कारण अत्यन्त शोक से व्याकुल हैं, वे शरणागति का अधिकारी है, जो साधक उपायान्तर मे प्रवृत्त होने के लिये पर्याप्त योग्यता रखते है, साथ ही विलम्ब से मोक्ष चाहते हो, वे भक्तियोग के अधिकारी है। इस प्रकार भक्ति और प्रपत्ति मे अधिकारिभेद व्यवस्थित रहता है। अतएव इनमे व्यवस्थित विकल्प मानना ही न्याय सगत होगा।

सद्विद्यादौ स्वभिमतिभिदया विकल्प तेन तत्प्रकरायम्
उपनिषदों मे सद्विद्या दहरविद्या शाण्डिल्यविद्या अक्षरविद्या और न्यासविद्या इत्यादि अनेक ब्रह्मविद्याय वर्णित है। उनमें न्यासविद्या ही शरणागति है। अन्यान्य ब्रह्मविद्यायें भक्तियोग कहलाती है। इनमें न्यासविद्या और अन्यान्य ब्रह्मविद्याओं मे व्यवस्थित विकल्प है जो अबतक कहा गया है। अन्यान्य सद्विद्या इत्यादि ब्रह्मविद्याओं मे सम विकल्प है क्योंकि वहाँ अधिकारिभेद नही है जो साधक ज्ञान शक्ति एव त्रवर्णिक जन्म से सपन्न हो साथ ही विलम्ब से फल प्राप्त करना चाहते हो वे ही उन ब्रह्मविद्याओ के अधिकारी है वे अपनी इच्छा से किसी एक ब्रह्मविद्या को अपना सकते हैं। अतएव उन ब्रह्मविद्याओ म समविकल्प माना जाता है अतएव वे विद्याय एक भक्तियोग के वर्ग मे गिनी जाती है ॥१७॥

(१८)

अप्युभयमधिकृतिभेदात्कर्मवद्रङ्गधामिन्
फलति फलमनेकं त्वत्पदे भक्तिरेका।
शरणवरणवाणी सर्वहेतुस्तथाऽसौ
कृपणभजननिष्ठा बुद्धिदौर्बल्यकाष्ठा ॥

पूर्व श्लोक मे श्री देशिक स्वामी जी ने प्रतिपादन किया है कि भक्ति और प्रपत्ति ने व्यवस्थित विकल्प है भक्तियोग के नाम से कही जाने वाली अन्यान्य ब्रह्मविद्याओ मे सम विकल्प है। इस श्लोक मे श्री देशिक स्वामी जी कहते है कि भक्ति के समान शरणागति भी सर्व फलप्रदायिनी है।

हे रङ्गधामिन्! त्वत्पदे एका भक्ति कर्मवदधिकृतिभेदादनेक फल मपि फलति श्री रङ्ग मे विराजने वाले हे श्री रङ्गनाथ भगवन्! जिस प्रकार अग्नि होत्र इत्यादि एक ही कर्म उन अनेक फलों को प्रदान करता है जिन्हे कर्म करनेवाले अधिकारी चाहते हो। कर्म करनेवालो की इच्छा के अनुसार एक ही कर्म अनेक फल देता है यह शास्त्र सिद्ध अकाट्य सिद्धान्त है उसी प्रकार ही मानना पड़ता

है कि आपके चरणारविन्द के विषय मे की जानेवाली एक ही भक्ति साधको की इच्छा के अनुसार अवश्य अनेक फल देती है। इसमे सन्देह नही है। आपने गीता मे स्पष्ट कहा है कि—

चतुर्विधा भजन्ते मां जना सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥

अर्थात् हे अर्जुन ! आर्त अर्थार्थी जिज्ञासु और ज्ञानी ऐसे चार प्रकार के धर्मात्मा सज्जन मेरा भजन करते है। इनमे आर्त नष्ट ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिये भगवद्भजन करते हैं अर्थार्थी नये ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिये भजन करते है, जिज्ञासु कैवल्य पुरुषार्थ को प्राप्त करने के लिये भजन करते है, ज्ञानी श्री भगवान् को प्राप्त करने के लिये भजन करते है। सभी भजन ही करते है वह एक भक्ति ही कामना के अनुसार उन उन साधको को विभिन्न फल देती है। भक्ति के द्वारा साधको को विभिन्न फल इस प्रकार प्राप्त होते है कि भक्ति से प्रसन्न होकर श्री भगवान् भक्तो की कामना के अनुसार उनको विभिन्न फल देते हैं। अतएव भक्ति अनेक फल साधन मानी जाती है।

तथाऽसौ शरणवरणवाणी सर्वहेतु जिस प्रकार एक ही भक्ति अनेक फल देती है, उसी प्रकार एक ही शरणागति सर्व फल देती है। यहाँ तक कि शरणागति वाक्य का उच्चारण भी सर्वविध फल देता है। जिस प्रकार धनिको के गृह द्वार मे पहुँच कर विना अर्थ ज्ञान के भवति भिक्षा देहि कहने वाला बालक भिक्षा प्राप्त करता है, उसी प्रकार नाना प्रकार की कामनाओ को लेकर श्री भगवान् के समक्ष उपस्थित होकर विना ही अर्थ-ज्ञान के शरणागति वाक्य का उच्चारण करने वाला साधक भी अपनी कामना के अनुसार अनेक फलो को प्राप्त करता है। यह शरणागति वाणी का प्रभाव है। शास्त्र मे श्री भगवान् को सम्बोधित कर कहा गया है कि—

तावदार्तिस्तथा वाञ्छा तावन्मोहस्तथाऽसुखम्।
यावन्न याति शरणं त्वामशेषाघनाशनम् ॥

अर्थात् श्रीभगवन् ! मनुष्यों को तब तक आर्ति अर्थात् ऐश्वय नष्ट होने के कारण बेचनी बनी रहेगी, तबतक वान्छा अर्थात् नये ऐश्वम को प्राप्त करने की लालसा बनी रहेगी, तब तक मोह अर्थात् आत्मानुभव का अभाव बना रहेगा तथा तब तक ससार दुःख बना रहेगा जब तक सम्पूर्ण पापों को नष्ट करने वाले आपके शरण में न आवे आपके शरण मे आने पर सब फल प्राप्त होगे। इस वचन से सिद्ध होता है कि शरणागति सब फल साधन है।

कृपण भजन निष्ठा बुद्धिदौर्बल्यकाद्धा इस प्रकार भक्ति और प्रपत्ति सब फल साधन तभी बनते हे जब योग्य अधिकारियों के द्वारा किये जाय। यदि भक्तियोग के लिये पर्याप्त योग्यता न रखने वाला साधक प्रपत्ति मे विश्वास की कमी के कारण भक्तियोग मे प्रवृत्त हो तो उसे मन्द बुद्धि ही मानना होगा, क्योंकि वह भक्ति योग को निभा नही सकता, असाध्य मे हाथ डाल दिया जो शरणा गति उससे निभ सकती उसमे तो उसका महा विश्वास नही, उसको फल प्राप्त होना कठिन है। अतएव शास्त्र मे कहा गया है कि अरस्य बुद्धिदौर्बल्यादुपायान्तरमिष्यते अर्थात् उपायान्तर की योग्यता न रखने वाला साधक शरणागति में विश्वास की कमी के कारण ही उपायान्तर को अपनाना चाहता है, विश्वास की कमी ही बुद्धि की दुर्बलता है। उपायान्तर मे प्रवृत्त होने वाले असमर्थ साधकों को बुद्धिदौर्बल्य की सीमा पर पहुँचे हुए मानना चाहिये। भाव यह है कि साधकों को अपनी योग्यता पर ध्यान रखकर योग्य साधन को चुनना चाहिये ॥१८॥

(१९)

कर्तव्य सकृदेव हन्त कलुष सर्वं ततो नश्यति
ब्रह्मेशादिसुदुर्लभं पदमपि प्राप्य मया द्राग्निति।
विश्वासप्रतिबन्धि चिन्तनमिव पर्यालयति न्यस्यता
रङ्गाधीश रमापतिस्त्वसुभग नारायणस्त्व तव ॥

पूर्व श्लोक मे श्री देशिक स्वामी जी ने कहा है कि शरणागति सकलफलसाधन है। शरणागति मे विश्वास की न्यूनता के कारण ही वे लोग भी भक्तियोग मे हाथ डालने लगते है जो तदर्थ पर्याप्त योग्यता नही रखते है। इस श्लोक मे श्री देशिक स्वामी जी महा-विश्वास को नष्ट करने वाले विचारो को उपस्थित कर समीचीन युक्तियो से उन विचारो का खण्डन करते हुए महाविश्वास को सुदृढ करते हैं।

हे रङ्गाधीश! कर्तव्य सकृदेव हन्त तत सर्व कलुष नश्यति ब्रह्मेशादिसुदुर्लभ पदमपि मया द्राक् प्राप्यम् इति विश्वासप्रतिबन्धि न्यस्यतामिद चिन्तन रमापतित्वसुभग तव नारायणत्व पर्यस्यति हे श्रीरङ्गनाथ भगवन्! आपके श्री चरणो मे अपने रक्षाभार का समर्पण करना ही शरणागति है। ऐसी शरणागति करने वालो को आप मे महाविश्वास अत्यावश्यक है क्योकि महाविश्वास शरणागति का एक विशिष्ट अग माना जाता है। बडे बडे साधको के मन मे ऐसे अनेक दुर्विचार उठकर महाविश्वास को जमने नही देते उन दुर्विचारो को नष्ट करने का एक मात्र उपाय यही है कि आपके लक्ष्मीपतित्व और नारायणत्व का अच्छी तरह से अनुसन्धान किया जाय। इस अनुसन्धान से ही वे दुर्विचार मिट सकते है दूसरा कोई साधन नही। वे दुर्विचार ये हैं कि शरणागति मुझे एक बार ही करनी होगी उसमे सर्वविध पाप नष्ट हो जायेंगे तथा वह पद भी मुझको शीघ्र प्राप्त हो सकता है जो ब्रह्म और रुद्र इत्यादि को भी दुर्लभ है? ऐसा विश्वास कैसे किया जाय। मरणपर्यन्त आवृत्ति किये जाने वाले भक्तियोग से भी सचित पुण्य पाप ही नष्ट होते है, प्रारब्ध नष्ट नही होता। सम्पूर्ण प्रारब्ध भोगने के बाद ही परमपद प्राप्त होता है। जब गुरु उपाय भक्तियोग की यह स्थिति है तो लघु उपाय शरणागति पर यह विश्वास कैसे किया जा सकता है कि जीवन मे एक बार कर्तव्य क्षणकालसाध्य इस शरणागति मे सम्पूर्ण सचित और प्रारब्ध नष्ट होकर वह परमपद मुझ घोर अपराधो के आकर को तुरन्त मिल जायगा।

यदि इस विचार का विश्लेषण किया जाय तो विदित होगा कि इस मे पांच दुर्विचार निहित हैं। वे ये हैं (१) साधक सोचता है कि मै अनन्त अपराधों का भण्डार हूँ अतएव मैं श्री भगवान् की विशेष कृपा का पात्र नही बन सका। यदि पात्र बना होता तो यह दुर्दशा नही होती, तब तो मै कम से कम कर्मयोग का अधिकारी बन ही जाता। अधिकारी तो बना नही इससे व्यक्त होता है कि अनन्त अपराध के कारण ही मै श्री भगवान् की कृपा का भाजन नही बन सका। श्री भगवान् सर्वज्ञ है, मेरे सब अपराधों को जानते है, श्री भगवान् सर्वशक्तिसम्पन्न है प्रत्येक अपराध के लिये दण्ड दे सकते हैं ऐसी स्थिति मे मुझ अपराधी को श्री भगवान् कैसे आश्रय दे सकते हैं। यह शंका श्री भगवान् को लक्ष्मीपति समझने पर दूर हो जाती है। श्री भगवान् श्री महालक्ष्मी पर अपार प्रेम करने वाले है। श्री महालक्ष्मी जी के मुखोल्लास के लिये ही श्री भगवान् सृष्टि स्थिति और प्रलय इत्यादि लीला करते रहते हैं। श्री भगवान् श्री महालक्ष्मी जी की प्रार्थना को टाल नही सकते। शरणागतों को अपनाने के लिये श्री महालक्ष्मी जी जब श्री भगवान् से अनुरोध करती है श्री भगवान् ठुकरा नही सकते श्री महालक्ष्मी जी के अकाट्य अनुरोध के कारण श्रीभगवान् सर्व अपराधों को क्षमा करते हुए ऐसे बन जाते हैं मानों उन अपराधों को बिलकुल नहीं जानते हों अतएव श्री भगवान् को अविज्ञाता ऐसा नाम पड़ा है। ऐसे अविज्ञाता बनने वाले श्री भगवान् अपराधियों को भी आश्रय दें, इसमे क्या आश्चर्य है। इस प्रकार श्री भगवान् के लक्ष्मीपतित्व को हृदयगम करने पर प्रथम शंका दूर हो जाती है।

(२) साधक सोचता है कि श्री भगवान् कर्मों
देने वाले है। इसलिये उन्हे कर्मानुरूप फलप्रद
श्री भगवान् भले ही श्री महालक्ष्मी जी के अनुरोध
देने के लिये राजी हो जायें, पर वे मुझे महा फल
पर कैसे विश्वास किया जाय ? क्योंकि मैने अब
अनराध कर डाले है। श्री

श्री भगवान् को उन कर्मों का फल देना होगा, ऐसी स्थिति में अनन्त फल मोक्ष कैसे प्राप्त होगा ? विश्वास को हिलाने वाली यह शका नारायण शब्दार्थ के अन्तर्गत स्वामित्व गुण का अनुसन्धान करते ही नष्ट हो जाती है। श्री भगवान् कर्मानुरूप फलप्रद होने पर भी इस शरणागतिरूपव्याज से प्रसन्न होकर प्राप्तिप्रतिबन्धक पापो को नष्ट कर देते हैं तथा दासस्वामिभाव सबन्ध के कारण भगवत्प्राप्ति के महान् फलमोक्ष का भी प्रदान करते है। कारण यह है कि श्री भगवान् स्वभावत स्वामी है, जीव स्वभावत दास है। दास को स्वामी की सेवा मे सहज अधिकार है, प्रतिवन्धक होने के कारण अब तक जीव उस महाफल को प्राप्त नही कर सका है प्रतिबन्धक दूर होते ही जीव को उसे प्राप्त करना न्यायप्राप्त है। जीव को साधनानुष्ठान, प्रतिवन्धक दूर करने के लिये करना पडता है न कि भगवत्प्राप्ति के लिये। प्रतिवन्धक दूर होते ही भगवत्प्राप्ति अवश्य हो जायगी। श्री भगवान् स्वाभाविक दास स्वामिभाव सबन्ध के कारण दायधन के समान न्याय प्राप्य भगवदनुभव एव कैङ्कर्य का अवश्य प्रदान करेंगे। इस दासस्वामिभाव सम्बन्ध का अनुसन्धान करने पर दूसरी शका मिट जाती है।

(३) साधक के मन में यह विचार भी कभी उठ सकता है कि श्री भगवान् परिपूर्ण हैं, अवाप्तसमस्तकाम है, उनको किसी द्वारा कुछ उपकार प्राप्त करने की आवश्यकता नही है। ऐसे भगवान् शरणागतिरूप अल्प व्यापार को निमित्त बनाकर क्योंकर अनुग्रह करेंगे। इस तरह इस विचार से भी विश्वास उठ सकता है। पर यह दुर्विचार भी नारायण शब्दार्थ के अन्तर्गत स्वाभाविक दया इत्यादि गुणो की महत्ता को समझने पर मिट जाता है। जिस प्रकार दयालु सौजन्यगुणयुक्त राजा प्रजा के अत्यल्प अनुकूल व्यापार से प्रसन्न होकर प्रजा के मनोरथ को पूर्ण करने मे तत्पर हो जाता है उसी प्रकार सब प्रकार से परिपूर्ण होते हुए भी परम दयालु श्री भगवान् जीव के शरणागतिरूप अत्यल्प अनुकूल व्यापार से प्रसन्न होकर जीवकृत क्षुद्र व्यापार को परमोपकार मानकर कृतज्ञतापूर्वक उस पर

अनुग्रह करते है तथा जीव के असाध्य मनोरथ को पूर्ण कर देते है।

(४) कभी साधक यह सोचता है कि अन्यान्य देवता शीघ्रफल देने वाले है श्री भगवान् विलम्ब से फल देने वाले है। यह विशेषता शास्त्रसिद्ध है। ऐसी स्थिति मे इस बात पर कसे विश्वास किया जाय कि श्री भगवान् शरणागत को शरीर छूटते ही मोक्ष देंगे। यह शका नारायण शब्दार्थ के अन्तगत सकल्पगुण के महत्व पर ध्यान देने से दूर हो जाती है। भले श्री भगवान् उन फलो को देने में विलम्ब कर जो जीवों का हितावह नही हो। मोक्ष फल जीवों का अत्यन्त हितावह है, इस फल को श्री भगवान् हितपी होने क कारण शीघ्र फल दे देते है, शीघ्रदेने में श्री भगवान् समथ है उनका सकल्प अमोघ है, उन्हे किसी दूसरे सहकारिकारण की प्रतीक्षा करनी नही पडती।

(५) साधक के मन में कभी यह विचार उठता है कि श्रीभगवान् पात्रापात्र विचार करके देने वाले है। इस बात पर कसे विश्वास किया जाय कि कुपात्र बद्धजीव को सर्वोत्तमफल मुक्ति का प्रदान करेंगे। यह शका भी नारायण शब्दार्थ के अन्तगत श्री भगवद्गुणों पर ध्यान देने से दूर हो जाती है। श्री भगवान् परम स्वतन्त्र है साथ ही अपना लाभ समझ कर जीवो का कल्याण करना उनका स्वभाव है। वे जीवो को सुपात्र बनाकर के ही मोक्ष देते है। जिस प्रकार दयालु उदार राजा राजकुमार को दूध पिलाते समय तियक शुक को भी दूध पिलाते है उसी प्रकार दयालु उदार श्री भगवान् इन बद्ध जीवों को मुक्त बनाकर नित्यसूरियों के समान भोग दें तो इसमे कोई दोष नही है। श्री भगवान ने श्री रामावतार मे कोसलदेशस्थ प्राणिमात्र को मोक्ष देकर अपने इस दिव्यगुण का परिचय कराया है। इस प्रकार श्री देशिक स्वामी जी श्री रङ्गनाथ भगवान् का संबोधन कर कहते है कि श्री भगवान् आपके प्रिय पतित्व और नारायणत्व का अच्छी तरह से अनुसन्धान करने पर महाविश्वासप्रतिबन्धक सभी दुर्विचार दूर हो जाते है॥१९॥

(६०)

धीकर्मभक्तिरहितस्य कदाऽप्यशक्त्या
रङ्गेश भावकलुषप्रणतिद्वयोक्तेः ।
मन्ये बलं प्रबलदुष्कृतशालिनो मे
त्वन्मूलदेशिककटाक्षनिपातमाद्यम् ॥

पूर्वश्लोक में श्री देशिक स्वामी जी ने उन सद्विचारो का इङ्गित किया है जिनसे महाविश्वास सुदृढ होता है । इस श्लोक मे अस्मदादियो को अनुसन्धान करने योग्य पद्धति को प्रस्तुत करते हुए बतलाते हैं कि दीन हीन जीवो को आचार्यानुग्रह ही अवलम्ब है ।

हे रङ्गेश अशक्त्या कदापि धीकर्मभक्तिरहितस्य भावकलुषप्रणतिद्वयोक्ते. प्रबलदुष्कृतशालिनो मे आद्य त्वन्मूलदेशिककटाक्षनिपात बल मन्ये हे श्री रङ्गनाथ भगवान् ! मै अनादिकाल से भयकर प्रवल पापो का भण्डार बन गया हूँ, उन पापो से मेरी सम्पूर्ण शक्ति नष्ट हो गयी है, मुझमे कर्मयोग ज्ञानयोग एव भक्तियोग समझने की शक्ति तक नही है उन्हे करने की शक्ति की तो बात ही क्या। यह दशा आज की नही है, अनादिकाल से यही दशा अनुवृत्त है, प्रतीत होता है कि सम्भवत यह दशा अनन्तकाल तक बनी रहेगी। न मे कल्पकोटिसहस्रेणापि साधनमस्तीति मन्वान श्री भाष्यकार स्वामी जी का यह कथन मुझ में अक्षरश चरितार्थ होता है क्योकि प्रतीत होता है कि मुझ को कोटिसहस्रसख्याक कल्प बीतने पर भी कर्मयोग ज्ञानयोग और भक्तियोग हाथ नही लगेंगे। भूत भविष्य और वर्तमान इन तीनो कालो मे भी मुझे मोक्षसाधन से दूर ही रहना है। मुझ से कर्म ज्ञान भक्ति सब नही सकते । मै जो आपके समक्ष शरणागति करता हूँ तथा द्वयमन्त्र बोलता हूँ वह भी शास्त्रनिर्दिष्ट रीति से सपन्न नही हो रहा है। शास्त्रीयरीति से करने पर द्वय मन्त्र का उच्चारण भी महाफल दे सकता है। आपके सन्निधि में शुद्ध भाव से प्रेरित होकर किये जायँ तो प्रणाम शरणागति और [illegible] का उच्चार मोक्ष साधन बन सकते है, यहाँ मुझसे जो

कुछ बन रहा है वह शुद्ध भाव को लेकर नहीं हो रहा है। प्रणाम शरणागति और द्वयमन्त्र का उच्चारण ये सब दुर्भावों से व्याप्त हैं, अतएव कलुषित हैं, इनसे उद्धार की आशा रखना अपने को धोखा देना है द्वयमन्त्र का उच्चारण तक मुझ से शास्त्रोय रीति से नहीं बन रहा है, आपमे महाविश्वास मुझको नही होता है, आप में अविश्वास करना महान दुर्भाव है इस दुर्भाव को लकर किया गया द्वयोच्चारण कैसे फलित हो सकता है। मेरी यह दुर्दशा अत्यन्त शोचनीय है, प्रबल पापों ने मुझे इस दुर्दशा म पहुँचा दिया है। इस दुष्परिस्थिति मे भी आपने मुझको एक अवलम्ब दे रखा है, उसका स्मरण करके ही मै आश्वस्त निर्भर निर्भय एव हृष्टमनवाला बन रहा हूँ, वह अवलम्ब दूसरा कोई नही आचार्य का कृपाकटाक्ष ही वह अवलम्ब है। आपके द्वारा ही वह अवलम्ब मुझे मिला है। अनादिकाल से मै नाना योनियो मे भटकता रहा उन योनियों म जो दुःख भोगने पड़े वे वर्णनातीत हैं। आपने ही इस जन्म में जन्मते समय मुझ पर अहैतुकी कृपा से दृष्टिपात किया उस दृष्टिपात का ही यह प्रभाव है कि मै सात्विक बन गया मोक्ष चाहने लगा, साधु सन्त महात्माओ से प्रेम करने लगा उनके सदुपदेश से सदाचार्य सम्बन्ध प्राप्त करने का उत्कण्ठा बढी। इस प्रकार आपने मुझे सदाचार्य सन्निधि तक पहुँचा दिया। सदाचार्य स्वभावत दयालु होते हैं उनकी कृपादृष्टि मुझ दीन हीन पर पड़ी। दयालु आचार्य ने मेरे रक्षाभार को आपके चरणो मे समर्पित कर सर्वदा के लिये भारहीन भयहीन संशयहीन बना दिया तथा सन्तुष्ट एव हृष्ट बना दिया है। इन सब का मूलकारण आप हैं। आपके द्वारा सम्पादित इस आचार्यसम्बन्ध से ही मेरा उद्धार होने वाला है यही मेरा महान बल है। यही मेरी धारणा है ॥२०॥

(२१)

अन्धोऽनन्धग्रहणवशगो याति रङ्गेश यद्वत्

पङ्गुर्नौकाकुहरनिहितो नीयते नाविकेन

भुड्क्ते भोगानविदितनृपः सेवकस्यार्भकादि-
स्त्वत्संप्राप्तौ प्रभवति तथा देशिको मे दयालुः ॥

पूर्व श्लोक मे श्री देशिक स्वामी ने आचार्यसम्बन्ध के महत्त्व का वर्णन किया है। इस श्लोक मे अनेक दृष्टान्तों द्वारा इस अर्थ का वर्णन करते है कि आचार्य के द्वारा मोक्ष कैसे प्राप्त होता है।

हे रङ्गेश ! यद्वद् अन्धोऽनन्यग्रहणवशगो याति, यद्वत् पङ्गुर्नौका-कुहरनिहित सन् नाविकेन नीयते यद्वदविदितनृप सेवकस्यार्भकादि भोगान् भुड्क्ते तथा मे त्वत्सप्राप्तौ दयालुर्देशिक प्रभवति हे श्री रङ्गनाथ भगवन् ! यद्यपि मैं ज्ञान और शक्ति से रहित हूँ, तथापि विश्वास करता हूँ कि दयालु आचार्य मुझे आपके चरणो तक पहुँचा देंगे। लोक मे ऐसे अनेक दृष्टान्त देखे गये है जिनमे उक्त अर्थ का समर्थन होता है। वे दृष्टान्त ये है। (१) अन्ध पुरुप मार्ग मे चल सकता है, मार्ग देख नही सकता अतएव उसको स्वय मार्ग में चलना कठिन प्रतीत होता है यदि वह अन्ध पुरुप किसी नेत्रशक्ति-सपन्न पुरुप के आधीन हो जाय तो गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाता है, वैसे ही मै ज्ञानहीन ज्ञानसपन्न आचार्य के आधीन आ गया हूँ, आचार्य हमें आप तक पहुँचा देंगे इसमे सन्देह नही। (२) लगडा मनुष्य मार्ग देख सकता है किन्तु मार्ग मे चल नही सकता, नदी का पार पाना तो असभव ही है। यदि कोई दयालु मल्लाह उसे अपनी नौका के किसी कोण मे रख ले तो उसे अवश्य तीर पहुँचा देगा, इसमे सन्देह नही, उसी प्रकार ही मुझ शक्तिहीन को शक्तिसपन्न आचार्य मिल गये, वे मुझे अपने अभिमान के अन्दर ले चुके हैं, मुझे अपना समझते है, मुझे ससार के पारभूत आपके पास अवश्य पहुँचा देंगे। (३) राजसेवक का पुत्र और स्त्री इत्यादि बन्धुवर्ग राजा को जानता तक नही राजा की सेवा करना तो दूर की बात है। राजा का भजन अर्थात् सेवा करने के लिये न उसके पास ज्ञान है, न शक्ति, ऐसी स्थिति मे वह बन्धुवर्ग राजदत्त भोगो को भोगता रहता है, इसमें कारण उनका राजसेवकके साथ सबन्ध ही है और कुछ

नहीं। उसी प्रकार प्रकृत में भले ही हम श्री भगवान् के स्वरूप रूप गुण स्वभाव और लीला इत्यादि को न जानें, श्री भगवान् की सेवा करने के लिये पर्याप्त ज्ञान एवं शक्ति से सपन्न भले न हों तो भी श्री भगवान् का भजन अर्थात् सेवा करने वाले सदाचार्य के साथ संबन्ध होने के कारण हम भी मोक्षानन्द को भोगने के लिये अधिकार रखते हैं। जिस प्रकार राजसेवक अपने स्त्री पुत्र आदि को सुखभोग पहुँचाता है उसी प्रकार हमारे दयालु सदाचार्य हमको मोक्षानन्द भुगाने में समर्थ हैं।

यहाँ पर ज्ञानाभाव के विषय मे अन्धदृष्टान्त शक्त्यभाव के विषय में पङ्गुदृष्टान्त उभयाभाव के विषय में सेवकपुत्रदृष्टान्त कहा गया है अथवा ज्ञानयोगाभाव के विषय में अन्धदृष्टान्त कर्म योगाभाव के विषय में पङ्गुदृष्टान्त भक्तियोगाभाव के विषय में सेवकपुत्रदृष्टान्त कहा गया है। यह विभाग ध्यान देने योग्य है॥२१॥

(२२)

उत्पया अनङ्घ्रविभीषणलब्धया ते
प्रख्यापय लक्ष्मणमुनेर्भवता वितीर्णाम् ।
श्रुत्वा वर तदनुबन्धमदावलिप्तो
नित्यं प्रसीद भगवन् मयि रङ्गनाथ ॥

पूर्व श्लोक मे श्री देशिक स्वामी जी ने अनेक दृष्टान्तों से इस अर्थ का समर्थन किया है कि आचार्यसम्बन्ध से उद्धार अवश्य होगा इस श्लोक में श्री भगवद्रामानुजसम्बन्ध का उल्लेख कर उस अर्थ की पुष्टि करते हुए श्री भगवान् से प्रार्थना करते हैं श्री भगवद्रामानुज स्वामी जी मुझ अनुयायी पर प्रसन्न होजाइयेगा।

हे भगवन् रङ्गनाथ! अनङ्घ्रविभीषणलब्धया ते उत्पया प्रख्यापय लक्ष्मणमुनेर्भवता वितीर्णां वरं श्रुत्वा तदनुबन्धमदावलिप्तं मयि नित्यं प्रसीद हे श्रीरङ्गनाथ भगवन्! जब श्री भाष्यकार स्वामी

जी ने शरणागतिगद्य मे आपके चरणो में शरणागति की तब आपने उनको उद्धार का आश्वासन देते हुए अन्त मे यह कहा है कि—

'मा ते भूदत्र सशय.।' 'अनृत नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन' 'रामो द्विर्नाभिभाषते।' 'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभय सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रत मम ।।' 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेक शरणं व्रज। अह त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ।।' इति मयैव ह्युक्तम् अतस्त्व तव तत्त्वतो मज्ज्ञानदर्शनप्राप्तिषु नि सशय सुखमास्व ।।

अर्थात् हे श्री यतिराज ! तुम मेरे शरण मे आगये हो मैंने तुम्हारे रक्षाभार को अपने ऊपर ले लिया है, तथा तुम को यह कह कर आश्वासन दे दिया है कि तुम्हारा उद्धार अवश्य करू गा। तुम इस बात के विषय मे कभी सशय न रखो। तुम यह न मानोगे कि तुम को खुश करने के लिये मैं ने ऐसा कहा। यदि मैं ने मन मे दूसरा भाव रखकर ऐसा कहा होता तो मेरे लोकप्रसिद्ध वचन मे विरोध उपस्थित हो जायगा। मैं अपने वचन के विरुद्ध कहने वाला सिद्ध हो जाऊगा, मैं ने अन्यत्र स्वय यह कहा है कि इसके पूर्व कभी मिथ्या भाषण नही किया, विशेष कर आश्रितो के समक्ष कभी मिथ्या भाषण नही किया। अब तक मिथ्या भाषण न करने पर भी स्वतन्त्र होने के कारण आगे मिथ्या भाषण करू गा, ऐसा किसी को भी सन्देह नही करना चाहिये क्योंकि आगे भी कभी मिथ्या भाषण नही करू गा। सत्य सत्य कहना यही मेरा स्वभाव है। अतएव श्री रामावतार मे मेरे विषय मे यह प्रसिद्धि हो गई है कि रामो द्विर्नाभिभाषते अर्थात् श्री रामचन्द्र जी दो वार नही बोलते। प्रथम मे कुछ कहे बाद उसके विरुद्ध कहे, यह स्वभाव श्री रामचन्द्र जी में नही। श्री रामचन्द्र जी जो एक वार कह दें, उससे ही सब कुछ सिद्ध हो जायगा। मैने श्रीरामावतार मे समुद्रतीर पर भरी सेना के मध्य मे श्री विभीषणशरणागति के प्रसङ्ग में विरोध करने वाले श्री सुग्रीव इत्यादि वानर वीरो को समझाते हुए समुद्र-

घोष को दबाने वाले उच्च स्वर से जो घोषणा की है, उससे कभी पीछे नही हट सकता। हाथी का जो दांत निकल गया सो निकल गया, वैसे ही मेरे मुख से जो निकल गया सो निकल गया, उससे मैं कभी पीछे नही हट सकता। उस घोषणा को फिर मैं तुम्हारे सामने दोहराता हूं, वह यह है कि—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥

अर्थात् हे सुग्रीव ! अभय देना मेरा व्रत है, किनको मैं अभय देता हूं सकृदेव प्रपन्नाय जो एक बार शरण मे आजाते है उनको अभय देता हूं, अनेक बार शरणागति करने की आवश्यकता नही है, एक बार की गई शरणागति ही पर्याप्त है। अन्यान्य उपायो में आवृत्ति अपेक्षित है प्रपत्ति में अनावृत्ति अपेक्षित है। यही शास्त्र सिद्ध अर्थ है। शरणागति परमफल मोक्ष से अत्यन्त घनिष्ठ मेल रखती है, मोक्ष मे पहुंचाने पर अनावृत्ति होती है अर्थात् साधक को पुन इस ससार में आना नही पडता शरणागति मे भी अनावृत्ति है। इस प्रकार दोनो में मेल है एक बार की गई शरणागति ही पर्याप्त साधन है। वह शरणागति इतरनिरपेक्ष होकर मन चाहा फल दे सकती है। प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। जो साधक मुझ से यह प्रार्थना करते हुए—कि श्री भगवान् आप मेरे लिये रक्षक बन जाइये—इस प्रकार आत्मसमर्पण करते है कि मै आपका हूं आप मुझे अपनाइये। प्रपन्नाय—याचते—जो मन से शरणागति करते है, तथा वाणी से यह कहते हुए कि—म आपका हूं—वाचिक शरणागति करते है। जो साधक प्रपत्ति शरणागति करते हुए ऐसी फलप्रार्थना करते हैं कि मैं आपका होकर रहना चाहता हूं, आप मुझ से सर्वविध कैङ्कर्य लेकर प्रसन्न हो जाइयेगा। प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते—जो साधक दूसरे किसी प्रयोजन को प्राप्त करने के लिये शरण मे आये हों तथा जो साधक—आपका होकर रहूंगा—इस प्रकार कैंकर्यप्रार्थना करते हुए अनन्यप्रयोजन होकर मेरे शरण मे

अपेक्षा नहीं रखती, यहां तक कि स्नान आचमन और शौच इत्यादि उन धर्मों की भी अपेक्षा नहीं रखती है जिनके आचरण से मनुष्य को धर्माचरण करने की योग्यता आती है ऐसे योग्यताकारक धर्मों को भी त्यागते हुए अर्थात् अगरूप में न लेते हुए मेरे शरण में आजाओ, क्योंकि प्रपत्ति निरपेक्ष साधन है। (४) हे अर्जुन! जो साधन अपने लिये अशक्य है उनमे व्यर्थ परिश्रम मत करो, उन्हे छोड़कर मेरे शरण मे आजाओ। (५) वे साधन कभी सध जायगे ऐसी प्रत्याशा करते मत रहो उस प्रत्याशा को छोड़कर मेरे शरण मे आजाओ। (६) शरणागति ब्रह्मास्त्र के समान है इससे यदि दूसरे साधन जोड़े जायें, तो शरणागति इस प्रकार हट जायगी जिस प्रकार रस्सियों से बांधने पर श्री हनुमान जी से ब्रह्मास्त्र हट गया था। दूसरे साधनों को साधनबुद्धि से मत करो साधनबुद्धि से किये जाने वाले अन्यान्य मोक्षसाधनों को सर्वथा त्याग कर मेरे शरण मे आजाओ।

मामेक शरण व्रज (१) हे अर्जुन! मुझ एक के शरण में आजाओ। मैं कौन हूं कैसा हूं, इस बात को मैंने अवतारहस्य एवं पुरुषोत्तमविद्या मे बतला ही दिया है। मैं सर्वरक्षक सर्वस्वामी सर्वेश्वर हूं। मै रक्षा के लिये अवसर ढूंढता रहता हूं। यही प्रतीक्षा करता हूं कि कौन जीव किस समय मुझ से रक्षा करने के लिये प्रार्थना करेगा। ऐसे अवसर की प्रतीक्षा करने वाले मेरे शरण मे आने मे क्या कठिनाई है। मैं वत्सल हूं अर्थात् आश्रितो के दोष को देखकर उनका अनादर करने वाला नहीं हूं, मै सुशील हूं तथा सुलभ हूं। इन बातों को तुम जानते हो हो। तुम इस समय तक शत्रु कौरवो मे अनुचित स्नेह एवं दया करते रहे हो क्षत्रियो के परम धर्म युद्ध को अधर्म समझकर उससे विरत होने के लिये तैय्यार हो गये हो मैंने तुम मे इन दोषों को देखकर अनादर नहीं किया। इससे तुम समझ गये होगे कि मै कितना वत्सल हूं मैंने तुम को इस उपदेश मे बता ही दिया कि अपराप्रकृति जड़तत्त्व पराप्रकृति जीवतत्त्व एवं उनसे होने वाले सभी पदार्थ मेरे हैं मै

सब का स्वामी हूँ। इससे तुम को मेरे स्वामित्व के विषय मे पता लगा ही होगा। मै कितना सुशील हूँ, इसे तुम जानते ही हो। जब तुम हे कृष्ण हे यादव हे सखे ऐसा संबोधन करते रहे मैं अणुमात्र भी अप्रसन्न नहीं हुआ, मै तुम्हारा सारथि बन गया, जब तुमने विश्वरूप दिखाने के लिये कहा, तुरन्त मैंने दिखाया, तुमने सौम्यरूप देखने के लिये कहा, तत्क्षण मै सारथि रूप मे प्रकट हो गया। इससे समझ सकते हो कि मैं कितना सुलभ हूँ। तुमको दूरदेशस्थ अपरिचित श्री वैकुण्ठनाथ रूप के शरण मे जाने की आवश्यकता नही। किन्तु परत्व और सौलभ्य को सूचित करने वाले इस पार्थसारथि रूप के शरण मे आजाओ। मुझ एक के शरण मे आजाओ। मैं ही प्राप्य हूँ, तथा साथ मे ही प्रापक उपाय भी हूँ यहाँ प्राप्य और प्रापक एक है, ध्यान रक्खो। (२) शरण मे आते समय मुझ एक को ही सिद्धोपाय समझो, शरणागति करने वाले अपने को एक सिद्धोपाय मानकर मुझसे अपने को मत जोडो, मुझे अकेले ही सिद्धोपाय बनने दो तभी कार्य सिद्ध होगा। (३) ऐसे ही साध्योपाय शरणागति को भी एक उपाय समझकर उसे मुझ से मत जोडा करो। कहाँ मेरी योग्यता कहाँ इस जड साध्योपाय की योग्यता, मुझे अकेले ही उपाय बनने दो। (४) दूसरे उपायो से मुझे मत मिलाओ। (५) वर्णाश्रमधर्म और शमदमादि अन्यान्य अगो के साथ भी मुझे मत मिलाओ। मै अकेला ही उपाय बन सकता हूँ। (६) सर्वधर्म सर्वपापो को नष्ट करते हैं, तुम सर्वधर्मों के स्थान में मुझ एक को ही उपाय बना दो।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि—मैं तुम्हे सर्वपापो से छुडा दूँगा। मै सर्वस्वतन्त्र हूँ, चाहूँ तो सब कुछ कर सकता हूँ, मेरी अघटितघटनाशक्ति सर्वविदित है। मुझ सर्वेश्वर ने ही अपराध करने वाले जीवो को बन्धन मे डाल रक्खा है, मैं ही छुडा सकता हूँ, तुम पर अनुग्रह करते समय मेरे सहज कारुण्य इत्यादि गुण, मूल कारण बनकर कार्य करते हैं, शरणागति से उत्पन्न प्रसन्नता मध्यम कारण बनकर कार्य करती है, मेरा निरङ्कुश

स्वातन्त्र्य अन्तिम कारण बनकर कार्य करता है। मेरा सहज कारुण्य अल्प व्याज को निमित्त रूप मे लेकर ऐसे प्रसाद को उत्पन्न करता है जिससे मै अनन्त अपराधों को क्षमा कर देता हूँ। यही प्रसाद करुणा से मिलित होकर मेरे निरङ्कुश स्वातन्त्र्य को आश्रितों के सर्वविध विरोधियो को दूर करने के लिये प्रेरित करता है। निरङ्कुश स्वातन्त्र्य से तत्क्षण कार्य सपन्न हो जाता है। इस प्रकार मैं इन गुणो से तुम्हारी रक्षा करने के लिये सन्नद्ध रहता हूँ। मै अनादि काल से ही प्रतीक्षा करता रहता हूँ कि कब मै इन बद्ध चेतनो को निर्मल बनाये गये भूषणों की तरह अपनाऊँगा। ऐसी स्थिति मे शरणागति के द्वारा जीव के यहा से सम्मति प्राप्त होने पर क्या मै चूकूँगा। मै उन सब पापों को नष्ट कर दूँगा जो जीवो को मुझे प्राप्त करने मे बाधा डालते है। केवल पापों को ही नष्ट न करूँगा किन्तु पापो के कारण और कार्य के रूप मे जीव से लगे हुए अज्ञान विपरीत वासना, विपरीत रुचि और प्रकृतिसम्बन्ध को नष्ट कर दूँगा। जीव के पास कुछ भी शेष मैं रहने न दूँगा। जड के साथ सब प्रतिबन्धको को नष्ट कर दूँगा। मुझे इनको नष्ट करने के लिये अधिक परिश्रम करना नही पड़ेगा। मेरा निग्रहसकल्प नष्ट होते ही सब नष्ट हो जायेंगे। प्रसाद उत्पन्न होते ही सब प्रकार के निग्रहसकल्प निवृत्त हो जायेंगे। हे अर्जुन ! इस प्रकार सब प्रतिबन्धक नष्ट होने पर मेरी प्राप्ति मे विलम्ब न होगा। बाँध टूटने पर जल अपने आप बहने लगता है प्रतिबन्धक राहु हटते ही चन्द्रमा मे ज्योति अपने आप भर जाती है वैसे ही प्रकृत मे भी प्रतिबन्ध हटते ही उसी क्षण मेरी प्राप्ति हो जायेगी। चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य इस श्रुति ने राहु के मुख से छूटे हुए चन्द्र को मुक्तात्माओ के दृष्टान्त के रूप मे उपस्थापित किया है। जीवों को मुझे प्राप्त करने मे सहज अधिकार है तदर्थ कुछ भी करने की आवश्यकता नही है, प्रतिबन्धक भर को दूर करना है प्रतिबन्धक दूर होते ही मै प्राप्त हो जाऊगा।

मा शुच मैंने अत्यन्त गोप्य सरल साधन का उपदेश दे दिया है तुम्हारा इससे उद्धार अवश्य होगा, शरणागति सपन्न होने पर

मैं तुम्हारे उद्धार का उत्तरदायित्व अपने सिर पर लूँगा तुम शोक मत करो।

हे यतिराज! इस प्रकार मैंने ही तो महाभारत संग्राम में अर्जुन से कहा है। श्री रामकृष्णावतार में मैंने जो कहा है, वह सर्वजीवों के उद्धारार्थ ही कहा गया है। जिस प्रकार बाजार में खेल दिखाने वाला मायावी किसी एक मनुष्य से बातें करता हुआ सभी दर्शकों को समझाता है उसी प्रकार मैंने भी विभीषण और अर्जुन को निमित्त बनाकर सर्व जीवों के समक्ष अपने हृदय को खोल कर रख दिया है। सब को समझाने में ही मेरा तात्पर्य है। तुम शास्त्रीय रीति से मेरी शरणागति कर चुके हो, तुम्हारे उद्धार का भार मेरे ऊपर आ गया है। तुम जो मेरे विषय में तत्त्वज्ञान तात्त्विकदर्शन तथा तात्त्विक प्राप्ति चाहते हो, इनके विषय में संशयहीन रहो। तुम्हारे ये सब मनोरथ पूर्ण हो जायेंगे। मैंने भार ले लिया है, तुम अपने भविष्य के विषय में निश्चिन्त होकर आनन्द से विराजमान रहो।

श्री देशिक स्वामी जी कहते हैं कि श्री रङ्गनाथ भगवन्! आपने श्री रामावतार में विभीषणशरणागति के प्रसङ्ग में सकृदेव प्रपन्नाय इत्यादि जो कहा तथा महाभारत संग्राम में अर्जुन के प्रति सर्वधर्मान् परित्यज्य इत्यादि जो कहा, उन सब का उद्धरण देकर आपने श्री भाष्यकार स्वामी जी को समझाते हुए अन्त में यह वर भी दिया है कि आपके समान मेरे शरण में आने वाले आपके सम्बन्धिसम्बन्धियों का भी उद्धार कर दूँगा। मैं श्री भाष्यकार स्वामी जी की शिष्यपरम्परा में हूँ, इस प्रकार मैं उनका निकट सम्बन्धी हो गया हूँ, साथ ही आपके शरण में भी आ गया हूँ। आपको मुझ पर प्रसन्न होना चाहिये। श्री भाष्यकार स्वामी जी के सम्बन्ध से मेरा उद्धार अवश्य होगा, यह समझकर मैं गर्व से फूल जाता हूँ। इस प्रकार आपके दिये हुए वर के अनुसार श्री भाष्यकार स्वामी जी के सम्बन्ध के कारण अपने उद्धार को अवश्यभावी मानकर फूलने वाले मुझ शरणागत पर आप प्रसन्न हो जाइये। आपने सृष्टि

के आरम्भ से लेकर मेरे उद्धारार्थ जो योजना बनाई थी वह आज फलित हो गई है। मै शरण मे आगया, आपका मनोरथ पूर्ण हो गया, आपके प्रसन्न होने पर मेरे मनोरथ भी पूर्ण हो जायगे। कृपया श्री भाष्यकार स्वामी जी के परम्परासम्बन्धी इस शरणागत पर प्रसन्न हो जाइयेगा यही प्रार्थना है ॥२२॥

(२३)

सकृदपि विनतानां सर्वदे सर्वदेहि–
न्युपनिषदभिधेये भागधेये विधेये ।
विरमति न कदाचिन्मोहते हा! हतोऽहं
विषमविषयचिन्तामेदुरा मे दुराशा ॥

श्री देशिक स्वामी जी ने पूर्व श्लोक मे कहा है कि श्रीभाष्यकार स्वामी जी के सम्बन्ध के कारण मुझ शरणागत का उद्धार अवश्य होगा। आगे श्री देशिक स्वामी जी कहते है कि शरणागत शरणागति के बाद शरीर छूटते समय तक ससार मे रहते है। अर्चावतार की सेवा करने के लिये तथा सत्कथाकालक्षेप द्वारा दूसरो का कल्याण करने के लिये शरणागत शरीर छूटने तक ससार मे रहने के लिये तयार हो जाते है मायामय ससार मे रहते समय उन पर माया का प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। उस समय विषयपरायणता इत्यादि दोषो का शिकार न बन तदर्थ आगे उल्लिखित रीति से नित्यप्रति अनुसन्धान करते रहना चाहिये जिससे वे दोष घट जायेगे। इस अभिप्राय को लेकर उत्तर श्लोक प्रवृत्त है। उनमे विषयाशाके विषय में कैसा अनुसन्धान करना चाहिये ? इस अर्थ का प्रतिपादन अपने अनुसन्धान के रूप मे प्रकृत अग्रिम श्लोक मे निहित है। श्री देशिक स्वामी जी अपने अनुसन्धान के रूप मे कहते है कि–

सकृदपि विनतानां सर्वदे सर्वदेहिनि उपनिषदभिधेये भागधेये विधेये सति विषमविषयचिन्तामेदुरा मे दुराशा कदाचिन्मोहतो न विरमति हा! अहं हतोऽस्मि। परमभोग्यभूत श्रीभगवान् विराजमान रहते मेरी आशा विषयो मे दौड़ती रहती है उससे हटना नही

चाहती। विषय बडे भयकर होते है। शास्त्र मे कहा गया है कि—

विषस्य विषयाणां च दूरमत्यन्तमन्तरम् ।
उपभुक्त विष हन्ति विषया. स्मरणादपि ॥

अर्थात् विष और विषयो मे आकाश पाताल का अन्तर है, विष तो खाने पर मारता है पर विषय तो स्मरण मात्र से ही मारते हैं। इससे सिद्ध होता है कि विषय विष से भी भयकर है। उन भयकर विषयो को प्राप्त करने के लिये तथा प्राप्त विषयो को सुरक्षित कर रखने के लिये मुझको चिन्ता होती रहती है। मै जानता हूँ कि चिन्तन करने मात्र से ही श्री भगवान प्राप्त हो सकते है क्योंकि वे परम चेतन हैं। जानते हैं कि हमारा अमुक साधक चिन्तन कर रहा है उससे मिलना चाहिये ऐसा समझ कर श्री भगवान पधार जाते हैं, इस प्रकार चिन्तनमात्र से ही जीव को श्री भगवान मिल जाते हैं पर चिन्तन करने से विषय नही मिलते, वे जड है, वे नही समझ सकते हैं कि यह मेरा चिन्तन कर रहा है उससे मिलना चाहिये। वे तो परिश्रम से साधन करने पर ही प्राप्त हो सकते है। इस मर्म को मैं समझता हूँ, तो भी चिन्ता श्री भगवान के विषय में नही होती, भयकर विषय के विषय में ही होती है। ऐसी चिन्ताओ से मेरी आशा सदा ओतप्रोत रहती है। मेरी यह विषयाशा मुझको दुर्गति के गर्त मे गिराने वाली है। यह विषयाशा इतनी बढ गई है, प्रतीत होती है कि कभी पूर्ण होने वाली नही। यह दृढ विषयाशा क्षणमात्र भी शान्त नही होती, अग्निज्वाला के समान सदा धधकती रहती है। विश्लेषणपूर्वक विचार करने पर भी पता नही लगता है, यह आशा श्रीभगवान को प्राप्त करने के लिये क्यो नही बढती विषयो को प्राप्त करने के लिये क्यो लालायित रहती है? क्या यह आशा यह समझती है कि श्री भगवान को प्रसन्न करना कठिन है, विषयो को प्राप्त करना सरल है। यह समझ केवल भ्रान्तिमात्र है क्योकि श्रीभगवान एक-बार भी की गई शरणागति मे अत्यन्त प्रसन्न होते है, पर विषय बारम्बार खटपट करने पर भी नही मिलते। यदि कहा जाय कि

श्री भगवान से अल्प फल ही मिलते हैं, विषयों से अनन्त सुख मिलते है यह कथन भी समीचीन नहीं क्योंकि श्री भगवान सब कुछ देने वाले है इसीलिये तो कहा जाता है कि—सकलफलप्रदो हि विष्णु विषयों से क्षणभंगुर दुःखमिश्र सुख मिलता है। श्री भगवान धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों को देने वाले है यहाँ तक कि अपने तक को उठाकर देने वाले हैं तथा अपना अनुभव करने के लिये पर्याप्त बल देने वाले है अतएव उनके विषय में श्रुति कहती है कि—य आत्मदा बलदा। इस प्रकार श्री भगवान सर्वस्व देने के लिये संकल्प किये हुए है। विषयों में तो ऐसी योग्यता है ही नहीं। श्री भगवान सब के अन्तर्यामी है, उन २ देवताओं के द्वारा जीवों को भी अभिमत उन २ फलों को देने के लिये ही श्री भगवान देवताओं के अन्तर्यामी बनकर विराजमान हो रहे है। श्री भगवान साधकों को ब्रह्मानन्द भुगाने के लिये संकल्प करते तो ऐसी शक्ति संसार में नहीं है जो उस संकल्प में बाधा डाल सके क्योंकि जगत के चेतन और अचेतन सभी पदार्थ उस परमात्मा का शरीर हैं आत्मा की इच्छा का अनुसरण करना शरीर का काम है। जागतिक सभी पदार्थ ईश्वर की इच्छा का अनुसरण करने वाले है उस इच्छा में बाधा डालने वाले नहीं। किंच श्री भगवान जीवों को मोक्ष प्रदान कर आत्यन्तिक रक्षा करने के लिये उनके अन्तर्यामी बने हुए है। किंच श्री भगवान प्राप्त होने पर सभी प्राप्य प्राप्त हो जाते है, कोई भी प्राप्य अप्राप्त नहीं रहता क्योंकि श्री भग वद्व्यतिरिक्त सभी वस्तुएं श्री भगवान के शरीर के रूप में प्राप्त हो जाती है, जगत में लीलाविभूति भोगविभूति एवं वहाँ के बद्ध मुक्त और नित्यसूरि इत्यादि जितने पदार्थ हैं, वे सब श्री भगवान का शरीर हैं इन सब से विशिष्ट होकर श्री भगवान प्राप्य होते हैं ऐसी स्थिति में एवंविध सर्वशरीरक श्रीभगवान प्राप्य होने पर माना जाता है कि सब कुछ प्राप्त हो गया है, अब कोई भी प्राप्तव्य नहीं बचा है। अतएव श्रुति ने कहा है कि—यच्चेहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तस्मिन् समाहितम् अर्थात् इस संसार में जो कुछ है अथवा जो

नही है, वह सब परमात्मा मे निहित है । एक श्री भगवान का प्राप्त होने पर सब कुछ प्राप्त हो जाता है । जिस प्रकार मधु को चखने पर सब पुष्परसो का स्वाद प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार श्री भगवान का अनुभव प्राप्त होने पर सब पदार्थो के अनुभव से प्राप्त होने वाले सुख प्राप्त होते है । यह योग्यता विषयो मे नही है । एक २ विषय के अनुभव से एक २ सुख ही प्राप्त हो सकता है । उपनिषदो का प्रधान प्रतिपाद्य अर्थ श्री भगवान है । श्री भगवान की सर्वविध महिमा उपनिषदो मे उद्घोषित है विषयो का महत्व किसी प्रमाण से भी सिद्ध नही होता, प्रत्यक्ष इत्यादि सभी प्रमाणो से विषयो के दोष ही विदित होते है, उपनिषद बतलाती है कि श्री भगवान जीव की रक्षा करने वाले है, प्रत्यक्ष आदि प्रमाण सिद्ध करते है कि विषय अधिक दुःख ही देते है । श्री भगवान जीवो के भाग्यस्थानीय है, भाग्य से जीव की रक्षा होती है श्री भगवान से जीव का सर्वविध कल्याण होता है । भाग्य जीव से गाढ सम्बन्ध पाकर समय समय पर जीव के मनोरथ को पूर्ण करता है, श्री भगवान जीवो से (स्वामिभाव इत्यादि) गाढ सम्बन्ध पाकर समय २ पर मनोरथो को पूर्ण करते है विषय तो दौर्भाग्यस्थानीय है, दौर्भाग्य दुःख देता है, विषय दुःख देते है । सर्वज्ञसर्वशक्तिसम्पन्न श्री भगवान शरणागतो के लिये विधेय बन जाते है, शरणागतो के कथन के अनुसार कार्य करने के लिये सदा सन्नद्ध रहते है, सर्वविध श्री भगवान सदा विद्यमान रहते है, ऐसा विषयचिन्तायो से व्याप्त मेरी यह दुष्ट आत्मा क्यो क्षणमात्र भी शान्त नही होती ? क्या मोक्षरूपी फल अल्प है ? क्या मोक्ष का साधन श्रमसाध्य है ? क्या मोक्ष देने मे अधिकृत श्री भगवान मे शक्ति की कमी है ? क्या श्री भगवान के साथ हम लोगो का कोई सम्बन्ध नही है ? क्या मोक्ष मे अनुभाव्य पदार्थ निकृष्ट है ? ये सब बाते तो है नही । ऐसी स्थिति मे यही मानना पडता है कि मेरी विषयतृष्णा शान्त न होकर जो प्रतिक्षण बढती जाती है, इसका कारण मोह ही है जब तक मोह बना रहेगा, तब तक विषयतृष्णा के घटने की सम्भावना नही

है। बड़े दुःख की बात है कि वृद्धसेवा से उपार्जित तत्त्वज्ञान से भी मोह नष्ट नहीं हुआ। हाय! क्या करूँ मैं मारा गया, यदि ऐसे ही विषयतृष्णा बनी रहेगी तो मेरा उद्धार कैसे होगा? हे प्रभो! दीनबन्धो! आप ही रक्षक हैं! आप ही विषयतृष्णा का नष्ट कर अपने विषय में प्रेम को बढ़ाइयेगा। इस प्रकार श्रीरङ्गनाथ भगवान से प्रार्थना करते हुए श्री देशिक स्वामी जी शरणागतों को यह सच्छिक्षा देते हैं कि वे भी प्रतिदिन इस प्रकार अनुसन्धान करते हुए विषयतृष्णा को घटाने तथा श्री भगवत्प्रेम को बढ़ाने में तत्पर हो जाय ॥२३॥

(२४)

यावज्जीवं जगति नियता देहयात्रा भवित्री
त्यक्ता सर्वे त्रिचतुरदिनग्लानभोगा नभोगाः।
वस्ते रङ्गी निजमपि पदं देशिकादेशकाङ्क्षी
किं ते चित्ते परमभिमतं खिद्यते यत्पुनस्त्वम् ॥

पूर्व श्लोक में श्री देशिक स्वामी जी ने अपने अनुसन्धान के द्वारा यह सच्छिक्षा दी है कि बढ़ती हुई विषयतृष्णा को नष्ट करने के लिये किस प्रकार के सद्विचार अपनाने योग्य हैं। इस श्लोक में श्री देशिक स्वामी जी चिन्ता को शान्त करने के लिये उपयुक्त सद्विचारों को उपस्थापित करते हैं।

जगति देहयात्रा यावज्जीवं नियता भवित्री—हे चित्ते! तुम क्या खेद कर रही हो प्रतिक्षण कुछ न कुछ सोचती ही रहती हो, कुछ न कुछ सोचकर सदा खिन्न रहती हो क्या बात है? किस बात को लेकर तुम चिन्तित होती हो? क्या योगक्षेम के लिये चिन्तित होती हो? क्या यह सोचती हो कि इह लोक में जीवन निर्वाह कैसे होगा? इसके लिये तुम्हें चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं क्योंकि जीवनभर देहयात्रा अर्थात् शरीरनिर्वाह सम्पन्न होता ही रहेगा वह कभी बन्द न होगा। यह सुनिश्चित सिद्धान्त है कि वर्तमान देहनिर्वाह का भार प्रारब्ध ने ले रक्खा है।

जब ऋण ही नहीं है तब देवतागण क्या बाधा डालेंगे ? यह शास्त्र-वचन प्रसिद्ध है कि—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन् ।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं नारायणं लोकगुरुं प्रपन्नः ॥

अर्थात् हे राजन् ! वह साधक देव ऋषि भूत मनुष्य और पितरों का सेवक नहीं है, न उनका कर्जदार ही है जो सबको शरण देने में समर्थ लोकगुरु श्रीमन्नारायण भगवान् के शरण में सर्वभाव से पहुँच गया हो । हे चित्ते ! तुम इस तत्त्व को समझकर देवताओं के विषय में चिन्ता छोड़ दो ।

रङ्गो देशिकादेशकारी निजमपि पद दत्ते हे चित्ते ! क्या तुम मोक्ष के लिये चिन्तित हो रही हो ? तुम उस चिन्ता को छोड़ दो । हम आचार्यनिष्ठ हैं, आचार्य के शरण में आत्मसमर्पण कर जब प्रार्थना करेंगे तब श्री रङ्गनाथ भगवान उस प्रार्थना को आज्ञा मान कर परमपद अर्थात् अपना निज धाम देने के लिये तैयार होने वाले हैं । श्री रङ्गनाथ भगवान परमदयालु हैं, आचार्य की आज्ञा की प्रतीक्षा करते रहते हैं, आज्ञा मिलते ही तत्क्षण मोक्ष देने के लिये सन्नद्ध रहते हैं । यह श्री भगवान की भक्तपरवशता है कि आचार्य की प्रार्थना मानकर कार्य करने लगते हैं । आचार्य की प्रार्थना को आज्ञा मान

पागलपन नहीं हो तो और क्या है। सत्य लोक में भी मिलने वाले भोगो की यही दशा है। वे पारलौकिक सुख अल्प अस्थिर और दुःखमिश्रित है इसलिये इन पारलौकिक सभी सुख भोगों को मैने त्याग दिया है इस लिये तदर्थ चिन्ता करना भी उचित नहीं है।

हे चिन्ते ! क्या तुम स्वर्ग आदि लोक में रहने वाले इन्द्र आदि देवताओ के विषय मे सोचती हो ! अभी तक हम लोग इन्द्र आदि देवताओ की सेवा करते आये हैं। इन्द्र आदि देवगण हम लोगों से उसी प्रकार सेवा लेते आ ये हैं जिस प्रकार मनुष्य पशुओं से सेवा लेते है। इन्द्र आदि देवगण भी यह नहीं चाहते है कि मनुष्य श्री भगवान का आश्रय लेकर ससारबन्धन से छूट जायें क्योंकि व जानते है कि यदि मनुष्य बन्धन से छूट जायें तो हमारे सेवको मे कमी हो जायगी। इस मर्म को समझकर ही देवगण मनुष्यों को मोक्षमार्ग मे चलने नहीं देते। तो क्या मोक्षमार्ग मे बाधा डालने वाले देवताओ के प्रति चिन्ता होती है ? इस शका के उत्तर में श्री देशिक स्वामी जी कहते हैं कि—त्रिचतुरदिनम्लानभोगा सर्वे नभोगास्त्यक्ता हे चिन्ते ! तुम स्वर्ग आदि लोक में रहने वाले देवताओ के विषय मे चिन्ता मत करो। हम श्री भगवान की शरण में आगये हैं। उन देवताओ को पहले ही त्याग दिया है। उन देवताओं के आश्रय में रहने से क्या लाभ ? यदि देवता अधिक से अधिक प्रसन्न हुए तो अपना सायुज्य अर्थात् अपने समान भोग दे सकते है। देवताओं का भोग क्या स्थायी है ? नहीं यह तो दो चार दिन मे मिटने वाला है ऐसी स्थिति मे स्वय नश्वर भोग को भोगने वाले देवगण हम लोगो को स्थायी भोग कैसे दे सकते है ? जब देवताओ को नष्ट होना पडेगा तब उनके आश्रित कैसे टिक सकते है ? इस मर्म को समझ करके ही मैंने देवताओ को छोडकर श्री भगवान का आश्रय लिया है अब रह गई बात देवताओं के द्वारा बाधा डालने की। तदर्थ भी तुमको चिन्तित नहीं होना चाहिये। कारण श्रीभगवान अपने शरणापन्न हुए जीवो को देवऋण इत्यादि ऋणों से मुक्त कर अपनी सेवा मे ले लेते हैं। भगवच्छरणागतो को कुछ भी ऋण चुकाना नहीं पडता।

जब ऋण ही नही है तब देवतागण क्यो बाधा डालेगे ? यह शास्त्र-वचन प्रसिद्ध है कि—

देवर्षिभूतात्मनृणा पितृणा न किंकरो नायमृणी च राजन् ।
सर्वात्मना य शरण शरण्य नारायण लोकगुरु प्रपन्न. ॥

अर्थात् हे राजन् ! वह साधक देव ऋषि भूत मनुष्य और पितरो का सेवक नही है, न उनका कर्जदार ही है जो सबको शरण देने मे समर्थ लोकगुरु श्रीमन्नारायण भगवान के शरण मे सर्वभाव से पहुँच गया हो। हे चिन्ते ! तुम इस तत्त्व को समझकर देवताओ के विषय मे चिन्ता छोड दो।

रङ्गी देशिकादेशकाङ्क्षी निजमपि पद दत्ते हे चिन्ते ! क्या तुम मोक्ष के लिये चिन्तित हो रही हो ? तुम उस चिन्ता को छोड दो। हम आचार्यनिष्ठ है, आचार्य के शरण मे भरसमर्पण कर जब प्रार्थना करेगे तब श्री रगनाथ भगवान उस प्रार्थना को आज्ञा मान कर परमपद अर्थात् अपना निज धाम देने के लिये तैयार होने वाले हैं। श्री रगनाथ भगवान परमदयालु है, आचार्य की आज्ञा की प्रतीक्षा करते रहते है, आज्ञा मिलते ही तत्क्षण मोक्ष देने के लिये सन्नद्ध रहते हैं। यह श्री भगवान की भक्तपरवशता है कि आचार्य की प्रार्थना मानकर कार्य करने लगते है। आचार्य की प्राथना को आज्ञा मान श्री रगनाथ भगवान अवश्य हम लोगो को शरीर छूटते ही मोक्ष देगे। श्री भगवान को आचार्यो पर इतना प्रेम है कि प्रार्थना सुनते ही अपना पद तक देने के लिये सन्नद्ध हो जाते हैं। इसलिये हे चिन्ते ! मोक्षार्थ भी तुम्हे चिन्तित न होना चाहिये।

हे चिन्ते ! ते पर किमभिमतम् यत्पुनस्त्व खिद्यसे ।

हे चिन्ते ! तुम्हे समझा दिया गया है कि इस लोक मे योगक्षेम के लिये चिन्ता नही करनी चाहिये। पारलौकिक सुख भोग के लिये भी चिन्ता नही करना चाहिये। मोक्ष के लिये भी चिन्ता नही करना चाहिये। ये तीन ही अर्थ चिन्ता के विषय हो सकते है, उचित हेतुओ का निरूपण कर सिद्ध किया गया है कि इन तीन बातो के लिये

चिन्ता नहीं करनी चाहिये । हे चिन्ते ! क्या इसके अतिरिक्त भी कोई कोई मनोरथ है जिसके लिये तुम चिन्तित होती हो ? ऐसा चतुर्थ कोई मनोरथ तो हो नहीं सकता, यदि हो तो बतलाओ ! उसके विषय में उत्तर दूंगा । इस प्रकार चिन्ता को सम्बोधित कर उपदेश देते हुए श्री देशिक स्वामी जी ने शरणागतों को निश्चिन्त रहने का आदेश दिया ॥२४॥

(२५)

अपि मुहुरपराधैरप्रकम्प्यानुकम्पे
वहति महति योगक्षेमभारं मुकुन्दे ।
मदकलुषमनीषाचक्रलेपावलेपान्
अनुगुणयितुमीहे न प्रभूनप्रभूतान् ॥

पूर्व श्लोक मे श्री देशिक स्वामी जी ने यह कहा है कि शरणागतों को किसी भी विषय को लेकर चिन्ता नहीं करनी चाहिये । इस श्लोक में श्री देशिक स्वामी जी शरणागता के लिये भावना उपस्थित करते हुए अपने सुदृढ़ अध्यवसाय को इस प्रकार व्यक्त करते हैं कि सबफल देनेवाले परमदयालु श्री भगवान विराजमान हैं मैं क्षुद्र राजाओं को अपने अनुकूल बनाने के लिये अणुमात्र भी प्रयत्न न करूँगा ।

मुहुरपराधैरपि अप्रकम्प्यानुकम्पे योगक्षेमभारं वहति महति मुकुन्दे (सति) (अहम्) मदकलुषमनीषाचक्रलेपावलेपान् अप्रभूतान् प्रभून् अनुगुणयितुं नेहे । श्री देशिक स्वामी जी कहते हैं कि श्री भगवान परम दयालु हैं । दुःख से कांपते हुए दुःखी जीव को देखकर दयालु श्रीभगवान स्वयं कांप जाते हैं । यह उनका स्वभाव है । इससे समझना चाहिये कि उनमें कितनी दया भरी होगी । श्री भगवान की दया किसी भी कारण से दबने वाली नहीं है । भयंकर अपराधी के अपराधों से भी श्री भगवान की दया रुकती नहीं चाहे वह अपराधी बार म्बार अपराध करता जाय बारम्बार अपराध करनेवाला जाय भी यदि

श्री भगवान का आश्रय लेना चाहे तो दयालु श्री भगवान तत्क्षण उनको आश्रय देते हैं। उनके अपराधो को देखकर कभी घृणा नहीं करते। श्री जनकनन्दिनी के चरणारविन्दों में भयकर अपराध करने वाला काक जब श्री भगवान की शरण मे आया तब श्रीभगवान ने उसके अपराध का विचार न करके उसकी रक्षा की। अपराधो जीवो को भी श्री भगवान आश्रय देते हैं, इतना ही नही, किन्तु आश्रय लेने के बाद भी यदि जीव अपराध कर जायँ तो भी श्री भगवान की दया कुण्ठित नही होती। उन अपराधो को भी किसी न किसी प्रकार से नष्ट करके श्री भगवान आश्रितो का उद्धार कर देते हैं। आश्रितों पर श्री भगवान की दया अपार है अतएव श्री भगवान सात्त्विक प्रकृति के आश्रितो के द्वारा कभी २ अपराध बन जाने पर उनको धर्मशास्त्रोक्त उन २ प्रायश्चित्तो मे प्रवृत्त कराकर अपराधो को नष्ट कर देते हैं धर्मशास्त्रोक्त प्रायश्चित्तो को करने मे असमर्थ आश्रितो को प्रायश्चित्त शरणागति में प्रवृत्त कराकर उनके अपराधों को क्षमाकर देते हैं। जो आश्रित कठिन प्रकृति के हैं अतएव प्रायश्चित्त शरणागति भी नही करते हैं उन आश्रितो को भी दयालु श्री भगवान यमलोक जाने से बचाकर यही ससार मे रहते समय मे ही नाना प्रकार की तापत्रय यातनाओं को भुगाकर उन अपराधो को फल देकर नष्ट कर देते हैं। उन अपराधो के फल को भोगने के लिये कभी यमलोक नही भेजते। यह श्री भगवान की दया है। यह अर्थात् न खलु भागवता यमविषय गच्छन्ति इहैषां केचिदुपक्लेशा भवन्ति। इस श्रुति से प्रमाणित है। अर्थात् भगवद्भक्त यमलोक नही जाते हैं। यही उनको पापफलस्वरूप नानाविध क्लेश प्राप्त होते है। इस प्रकार आश्रितो के द्वारा बारम्बार अपराध बनने पर भी श्री भगवान की दया में बाधा नही पड़ती, श्री भगवान उनका उद्धार कर देते हैं। एवंविध परमदयालु श्रीभगवान के विराजमान रहते समय हम उनका आश्रय छोड़कर राजा इत्यादि क्षुद्र धनिको को प्रसन्न करने के लिये क्यो प्रयत्न करें। हम वैसा करना नही चाहते। वे राजा इत्यादि धनिक कैसे

होते हैं ?—मदकलुषमतीपावज्रलेपावलेपान् उन राजा इत्यादि प्रभुओ की बुद्धि सदा मद से मलिन रहती है जिस प्रकार जल पंक से मलिन रहता है उसी प्रकार उनकी बुद्धि सदा मद से मलिन रहती है। वे सदा यह समझते रहते हैं कि हम बड़े धनिक है, हम से बढ़कर सपन्न ससार मे नही है। इस प्रकार समझते रहने से उनकी बुद्धि मद से व्याप्त रहती है मलिनता उसमे घर कर जाती है। मद से मलिन उस बुद्धि में गर्व सदा बना रहता है जिस प्रकार वज्र लेप को दूर करना कठिन है उसी प्रकार उनके मन से गर्व को दूर करना भी कठिन है। उनके मद मलिन मन में गर्व वज्र लेप के समान गाढ लग्न होकर बना रहता है। ऐसे गर्वीलि प्रभुओं के मन मे दया कैसे रह सकती है। वे अपराधी को न आश्रय द सकते है, न अपराधी के अपराध को क्षमा कर सकते है दण्ड देने मे ही उनका आनन्द है। ऐस मदोन्मत्त प्रभुओ को अनुकूल बनाने के लिये हम क्यो प्रवृत्त हों। मेरे लिये प्रभु दयालु श्री भगवान विराजमान हैं। हम इनको प्रसन्न करने के लिये प्रयत्न करेंगे।

किंच श्रीभगवान स्वामी है उनके साथ हमारा दास स्वामि भाव सम्बन्ध अविच्छिन्न है। अपने स्वामी का आश्रय लेने मे शोभा है। इन सासारिक प्रभुओ के साथ हमारा कोई सम्बन्ध नही। न पहले ही कोई सम्बन्ध रहा न अब भी है, न आगे भी बना रहेगा क्योंकि इन मदोन्मत्त प्रभुओ को उस सम्बन्ध को तोड़ने मे देर नही लगेगी। ऐसी स्थिति में इन अज्ञात कुलशील प्रभुओं का आश्रय लेना फलप्रद होगा इसमें सन्देह ही है।

किंच महति श्रीभगवान महापुरुष है पुरुषोत्तम हैं ये लौकिक प्रभु अप्रभूत क्षुद्र है श्री भगवान के समक्ष ये कोई मूल्य नही रखते। किंच श्री भगवान विश्व के स्वामी होने से महान है, उनकी विभूति अर्थात् सम्पत्ति अपार है। ये लौकिक प्रभु दो चार ग्रामो के स्वामी हैं। ये विश्वपति के समक्ष नगण्य हैं। श्री भगवान महापुरुष है उनकी सेवा केवल मन से भी की जा सकती है। भक्त लोग जो मन

से श्री भगवान का स्मरण करते हैं उसे श्री भगवान सेवा समझ-कर प्रसन्न हो जाते है। चिन्तन मात्र से श्री भगवान की सेवा की जा सकती है। ये लौकिक प्रभु मन से चिन्तन करने मात्र से प्रसन्न नही होते है, किंतु बडे परिश्रम से शरीर से सेवा करने पर ही कही प्रसन्न होते है, श्री भगवान पूर्ण काम हैं, अतएव स्मरण के अतिरिक्त कुछ नही चाहते स्मरण मात्र से प्रसन्न हो जाते हैं। ये लौकिक प्रभु अपरिपूर्ण है सापेक्ष हैं, अतएव स्मरण मात्र से प्रसन्न नही होते क्लेशसाध्य विविध सेवा करने पर ही प्रसन्न होते है। किंच श्री भगवान योगक्षेमवृन्दं वहति योगक्षेम का वहन करनेवाले है। श्री भगवान सासारिक योगक्षेम का वहन करते है, इतना ही नही, पारलौकिक योगक्षेम का भी वहन करते है। अप्राप्त वस्तु को प्राप्त होना योग है, प्राप्त वस्तु की रक्षा करना क्षेम है। श्री भगवान जीवो को तत्त्वज्ञान से लेकर मोक्ष पर्यन्त सिद्धियो को प्रदान करते है जो अबतक नही मिली हैं, उन सिद्धियो की रक्षा भी करते हैं। इस प्रकार नाना प्रकार के योगक्षेमो को प्रदान करने के लिये श्री भगवान उनको अपने शिर पर लेकर आश्रितो के पीछे फिरते रहते हैं। ये लौकिक प्रभु भले थोडा बहुत शरीर के योगक्षेम को सम्हाले तो सम्हाले, आत्मा के योगक्षेम को अर्थात् आत्मकल्याण को कभी नही सम्हाल सकते हैं किंच श्री भग-वान मुकुन्द है, भोग मोक्ष देने वाले हैं। शास्त्र में कहा गया है कि—

शरीरारोग्यमर्थांश्च भोगांश्चैवानुषङ्गिकान् ।
ददाति ध्यायिना नित्यमपवर्गप्रदो हरि ॥

अर्थात् ध्यान करने वालो को मोक्ष देने के लिये तत्पर रहने वाले श्री भगवान इस ससार में रहते समय उनको सदा शरीर का आरोग्य सपत्ति तथा गौणरूप से विविध भोगो को प्रदान करते हैं। इस प्रकार श्री भगवान इस लोक एव परलोक में सदा मंगल करने के लिये सन्नद्ध रहते हैं ये लौकिक प्रभु तो इस लोक मे भी पूर्ण रूप से सुख नही पहुँचा सकते, परलोक मे कल्याण करना तो असम्भव

। ऐसी स्थिति मे मैंने जो निर्णय किया है कि सब कल्याण गुणोपेत श्री भगवान को छोडकर इन क्षुद्र प्रभुओं को अनुकूल बनाने के लिये कभी प्रयत्न न करूंगा, यह नितान्त उचित ही है। प्रपन्नों को भी ऐसे ही अध्यवसाय रखना चाहिये ॥२५॥

(२६)

मातर्भारति मुञ्च मानुषघट्टन् हे देह लब्धरल
लुब्धद्वारबुरासिकापरिभवैस्तोष जुषेथा मन ।
बाचस्सोमनि रङ्गधामनि महान दोश्रमद्भूमनि
स्वामि यात्मनि वेङ्कटेश्वरकवे स्वेनार्पितोऽयं भर ॥

पूर्व श्लोक मे श्री देशिक स्वामी जी ने कहा है कि मैं सर्व कल्याणगुणोपेत विविध मगल प्रद स्वामी श्री भगवान को छोडकर क्षुद्र प्रभुओ को अनुकूल बनाने के लिये चेष्टा नही करूंगा। इस प्रकार यह कर यह दर्शाया कि प्रपन्नों को कसे अध्यवसाय रखना चाहिये। इस श्लोक मे श्री देशिक स्वामी जी यह बतलाते है कि मैंने अपने रक्षाभार को श्री रङ्गनाथ भगवान के श्री चरणों मे समर्पित कर दिया है। इसलिये हे वाणी मन और शरीर ! आप लोगो को विषयान्तरों से हटकर श्री भगवद्विषय मे लग जाना चाहिये। इसी में कल्याण है। इस प्रकार शरीर मन और वाणी को सम्बोधित कर इस श्लोक में उनको समझाते है।

हे मातर्भारति मानुषघट्टन मुञ्च हे वाणी ! आप मेरी माता हो। जिस प्रकार माता बच्चे के मनोरथो को पूर्ण करने के लिये सब के यहा जाकर खुशामद करके कुछ न कुछ मागती रहती है उसी प्रकार आप भी मेरे मनोरथो को पूर्ण करने के लिय क्षुद्र मनुष्यो के यहाँ जाकर नाना प्रकार के प्रिय वचन सुनाकर उनको खुश करके कुछ न कुछ मागा करती थी। हे मात वाणी ! आप से मै करबद्ध प्रार्थना करता हूं कि आज से आप मनुष्यो की खुशामद करना छोड द। मनुष्यों को खुश करने के लिये उनकी स्तुति करनी पडती है उसमे मिथ्याभाषण ही करना पडता है व्यर्थ झूठे

गुणों को कहना पडता है । नर स्तुति मे मिथ्याभाषण जन्य पाप के सिवाय कुछ हाथ नही लगता । हे मात ! अब तक जो कुछ हुआ सो हुआ, यही प्रार्थना है कि आगे आप मेरे लिये मनुष्यो को स्तुति करना छोड दे ।

हे देह लब्धंरलम् हे देह ! जितने मिलते हैं उनसे ही तृप्त रहो, अधिकाधिक प्राप्त करने के लिये व्यर्थ चेष्टा मत करो । प्रारब्ध मे जितना लिखा है, उतना ही प्राप्त होगा, अधिकाधिक दौडधूप करने से क्या कुछ अधिक मिलेगा । देखो कितने लोग इस समय कुछ न करते हुए भी अधिकाधिक सुख भोगते है, कारण क्या है, उनके प्रारब्ध मे सुख भोगना लिखा है । देखो, कितने ही लोग अधिकाधिक परिश्रम करते हुए भी अधिक सुख भोगने नही पाते हैं । कारण क्या है ? कारण यही है कि उनके प्रारब्ध मे सुख भोगना नहीं लिखा है । इसलिये कहता हूँ कि हे देह ! तुम्हे जितना मिलता है उतने से ही सन्तोष पाओ । देखो, तुमको दो अवस्थाये है—(१) देहत्वावस्था और (२) शरीरत्वावस्था । देहत्वावस्था मे तुम बढते रहते हो, शरीरत्वावस्था मे तुम घटते रहते हो । यदि तुम मे देहत्वावस्था है तो प्रारब्धानुसार मिलने वाले सारहीन भोग्य पदार्थ से भी तुम बढ सकते हो यदि तुम मे शरीरत्वावस्था है तो सारवत्तर पदार्थों को खाने पर भी तुम एक इञ्च भी बढ नही सकते हो, घटते ही रहोगे । याद रखो, कठोपनिषद् मे कहा गया है कि—

सस्यमिव मर्त्यं पच्यते सस्यमिवा जायते पुन. ।

अर्थात् मनुष्य धान की तरह पक जाता है, तथा धान की तरह पुन उत्पन्न होता है । भाव यह है कि धान जब बढ़ने की अवस्था में है तब जल और खाद इत्यादि मिलने पर बढता रहता है, जब धान पूर्ण रीति से पक जाता है, उसमे मञ्जरी इत्यादि लग जाती है, तब अधिकाधिक मात्रा मे जल इत्यादि मिलने पर भी नहीं बढने पाता किंतु धराशायी हो जाता है, वैसे ही मनुष्य भी बाल्य यौवन

इत्यादि बढने की अवस्थाओं में रूखे सूखे अन्न खाकर भी बढता रहता है सन्तान इत्यादि भखरी लगने पर तथा वृद्धावस्था उपस्थित होने पर घटने लगता है चाहे उत्तमोत्तम पदार्थ क्या न मिला करें, तो भी जीर्णक्षीण होकर मृत्यु के मुख में चला जाता है। इसलिये कहता हूँ हे देह जब तक तुम में देहत्वावस्था है, तब तक तुम मिले हुए रूखे सूखे पदार्थ से भी बढ सकते हो। इसलिए प्रारब्धानुसार मिलने वाले पदार्थों से सन्तुष्ट रहो।

हे मन! लुब्धद्वारबुरासिकापरिभवस्तोय क्षुधया हे मन! क्या तुम नही जानते हो, लोभी लोगों को पसा पसा जोडने मे ही सुख प्राप्त होता है। व एक पसे को भी किसी को देना नही चाहते यदि कही देना पडे तो उनको मृत्यु के समान दुःख होने लगता है। उन लोभी अथ पिशाचो को तुमने लोभी नही समझा। किंतु उन्हे धनी समझकर तुम ने उनसे कुछ प्राप्त करने के लिये उनके द्वारो मे बहुत समय तक बैठ कर उपासना की यदि तुमने श्री भगवान के द्वार पर बठकर उपासना की होती तो अवश्य सुख मिलता। किंतु वसा किया नही। केवल लोभियो के द्वार पर बठ कर उपासना की। वह उपासना अन्त मे दुःखद ही सिद्ध हुई। लोभी तो द्वार पर याचक को उपस्थित जानकर बाहर निकलते ही नही क्योंकि निकलने पर उन्हे देना पडेगा। तुम भी 'अब निकलगे तब निकलगें' इस आशा से बैठे ही रह गये। जसे जसे अधिकाधिक समय बीतता था वसे वसे तुमको अधिकाधिक कष्ट होता था इस प्रकार कष्ट पाकर भी जब तुम उनके द्वार पर अडे रह जाते, तब उस लोभी के द्वारा भेजे गये नौकर आकर तुम को अनेक विध अपमान करते, कभी गाली देते, कभी बत से मारते कभी धक्का देते। इस प्रकार नानाविध परिभवों को प्राप्तकर अन्त मे निराश होकर तुम्हे लौटना पडा। ऐसा एकबार परिभव हुआ, सो बात नही, अनेकबार परिभव हुए। हे मन! उन परिभवो को याद कर सन्तोष पाओ अब तक जो मिला वही शिक्षा पाने के लिये पर्याप्त है, तुम्हे उन परिभवो को याद कर शोकात होकर यह प्रतिज्ञा

करना चाहिये कि आगे कभी ऐसा न करेंगे, मरण पर्यन्त दु ख उपस्थित होने पर भी लोभियो के द्वार पर नही जायंगे।

इस प्रकार श्री देशिक स्वामी जी ने वाणी शरीर और मन को सम्बोधित करके उनको उचित उपदेश दिया। आगे कहते है कि हे शरीर, मन और वाणी ! यदि तुम लोग यह समझ बैठे हो कि हम तीनों तो करण हैं, बिना कुछ किये रह नही सकते हैं, हमे कुछ न कुछ करते रहना चाहिये। सुनो ! तुम्हे उचित दिशा पर प्रवृत्त होने के लिये बतलाता हूँ तुम तीनो श्री भगवान की तरफ जुट जाओ। सम्पूर्ण प्रवृत्ति श्री भगवान के विषय मे हो जाय, इसमे सब का कल्याण है। श्री भगवान कैसे है ?

वाच· सोमनि श्री भगवान वाणी की सीमा मे है, वाणी से श्री भगवान के गुणो का अधिकाधिक वर्णन होने पर भी आगे आगे श्री भगवान के ऐसे गुण विद्यमान है, जो अब तक वर्णित नही हुए हैं। इस प्रकार श्री भगवान मे विद्यमान गुणो का वर्णन करते रहने पर भी वाणी पार नही पा सकती। श्री भगवान मे विद्यमान गुणो का वर्णन ही जब वाणी से नही बनता, तब मिथ्या गुणो का वर्णन करने का प्रसग ही नही उठता। दु ख की बात है कि मनुष्यो की स्तुति करते समय, कई बार वाणी को मिथ्याभाषण करना पडा किंतु यदि वाणी श्री भगवत्स्तुति में प्रवृत्त हो जाय तो वाणी पूर्ण मात्रा मे सत्यवादिनी बन जायगी। इसलिए कहता हूँ कि वाणी से अगम्य अनन्त कल्याणगुणो से अलकृत श्री भगवान की स्तुति मे वाणी को जुट जाना चाहिये।

रङ्गधामनि श्री भगवान वैकुण्ठधाम से अवतीर्ण होकर श्री रङ्गधाम मे श्री रङ्गनाथ भगवान के रूप में विराजमान रहते हैं। प्रतीत होता है कि श्री रगमन्दिर में श्री रगनाथ भगवान इस अभिप्राय को लेकर ही शयन करते रहते है कि इस भूलोक मे रहने वाले सब जीवो का उद्धार करके ही उठेंगे। इस प्रकार जीवो-द्धारार्थ अर्चावतार के रूप मे विराजने वाले श्री रगनाथ भगवान

को प्रणाम करने प्रदक्षिणा करने तथा पूजन करने इत्यादि विविध सेवा में लगकर शरीर को कृतार्थ बनाना चाहिये। श्री भगवत्सेवा मे लग जाने पर ही शरीर की सफलता है।

महानन्दोमग्न मनि श्री भगवान महान आनन्द से सदा परिपूर्ण रहते है, आनन्द वृद्धि से श्री भगवान का महत्त्व बढ़ जाता है स्वरूप रूप गुण, विभूति, लीला और धाम ये सब श्री भगवान को अत्यन्त अनुकूल प्रतीत होते रहते है, इसलिये उनका आनन्द प्रतिक्षण वृद्धिगत होता रहता है। ऐसे आनन्दमय श्री भगवान के अनुभव मे मन को प्रवृत्त होना चाहिय। श्री भगवान का निरन्तर अनुसन्धान करते रहने पर उनका अनुभव प्राप्त होता है। रस स्वरूप श्री भगवान का अनुभव प्राप्त होने पर मन को अपार आनन्द प्राप्त होगा। श्रुति कहती है कि—रसो व स रस ह्येवाय लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। अर्थात् श्री भगवान् रस स्वरूप है। रस स्वरूप श्री भगवान को प्राप्तकर जीव आनन्दानुभव प्राप्त करता है। इसलिये कहता हूं कि मन को आनन्दमय श्री भगवान के अनुभव म लग जाना चाहिये।

स्वामिनि श्री भगवान स्वामी है शरीर मन और वाणी स श्री भगवान की सेवा करने पर उसी प्रकार दिव्य आनन्द प्राप्त होगा जिस प्रकार पतिव्रता को पति की सेवा से विमल आनन्द प्राप्त होता है। लौकिक प्रभुओ की सेवा करने पर इसलिये सुख प्राप्त न हुआ, वे स्वामी नही है। अतएव उनकी सेवा दु खद हो सिद्ध हुई। श्री भगवान स्वभावत स्वामी है हम स्वभावत दास है इस स्वाभाविक सम्बन्ध के कारण श्री भगवत्सेवा दिव्य आनन्द देती है। लौकिक प्रभुओं के साथ दास स्वामि भाव सम्बन्ध कर्मकृत है स्वाभाविक नही अतएव उसका परिणाम अच्छा नही होता। स्वामी की सेवा से स्वरूप उज्ज्वल होगा। इसलिये कहता हूं कि तीनों करणो को श्री भगवत्सेवा मे प्रवृत्त होना चाहिये।

आत्मनि श्री भगवान जीवात्माओ का भी आत्मा है उनका आत्मा कोई नही है अतएव वे परमात्मा कहलाते है। सभी जीव

श्री भगवान के शरीर के समान हैं, लोक मे देखा जाता है कि सब कोई अपने शरीर की रक्षा में स्वयं प्रवृत्त होते है, वैसे श्री भगवान भी अपना शरीर बने हुए जीवो की रक्षा मे स्वय प्रवृत्त हैं। ऐसी स्थिति में अपनी रक्षा के लिये दूसरे जीवो का आश्रय लेने की क्या आवश्यकता ? शास्त्र मे कहा गया है कि रक्षते भगवान् विष्णु-र्भक्तानात्मशरीरवत् अर्थात् श्री भगवान अपने शरीर की तरह आश्रित भक्तो की रक्षा करते हैं।

वेङ्कटेश्वरकवेरयभर स्वेनार्पितः हे वाणी देह और मन ! वेङ्कटेश्वर कवि मैंने स्वय अपने रक्षाभार को आज वाणी की सीमा में रहने वाले अपार आनन्द के कारण अधिकाधिक महत्त्व रखने वाले स्वामी एव परमात्मा श्री रङ्गनाथ भगवान के श्री चरणो में समर्पित कर दिया है अथवा श्री भगवान ने ही अनादि कर्मप्रवाह मे अनुकूल मौका पाकर आज हमारे रक्षाभार को अपने श्री चरणो में समर्पित करा लिया है। आज से मेरी रक्षा का भार श्री भगवान ने ले लिया है, वे अवश्य रक्षा करेंगे। तुम लोगो को अन्यान्य विषयो से हटकर श्री भगवद्विषय मे लग जाना चाहिये। मेरी रक्षा के लिये तुम लोगो को क्षुद्र प्रभुओ को प्रसन्न करने के काम में नहीं लगना चाहिये किंतु सर्वरक्षक श्री भगवान की सेवा मे प्रवृत्त होना चाहिये।

इस प्रकार कहकर श्री देशिक स्वामी जी ने प्रपन्नो को यह दर्शाया कि शरीर वाणी और मन से किसे त्यागना चाहिये तथा किसे अपनाना चाहिये ॥२६॥

(२७)

दास्यं लास्यवताऽनु मनसा रङ्गेश्वर त्वत्पदे
नित्यं किं करवाण्यहं न तु पुनः कुर्यां कदर्याश्रयाम् ।
मीलच्चक्षुषि वेल्लितभ्रुणि मुहुर्दत्तावमानक्षरे
भीमे कस्यचिदाढ्यकस्य वदने भिक्षाविलक्षां दृशम्॥

पूर्व श्लोक मे श्री देशिक स्वामी जी ने श्री रङ्गनाथ भगवान के दिव्य चरणो में अपने रक्षाभार को समर्पित करके शरीर, मन

और दासी को सम्बोधित कर कहा कि तुम लोग आज से विषया
न्तर से हटकर श्री भगवान की सेवा मे लग जाओ। तुम लोगों को
मेरी रक्षा के लिये कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है, कारण
श्री रङ्गनाथ भगवान ने मेरे रक्षाभार को अपने ऊपर ले लिया है।
इस श्लोक में श्री रङ्ग देशिक स्वामी जी श्री रङ्गनाथ भगवान से
प्रार्थना करते है कि देवाधिदेव! आप ऐसी कृपा करें कि मैं आपके
चरणारविन्दों में दासता को स्वीकार कर सदा कैङ्कर्य करता रहूँ,
तथा भीख मागने के लिये दूसरे किसी क्षुद्र प्रभु पर मुझको दृष्टिपात
करना न पड़े।

हे रङ्गेश्वर! अहं सात्यवता मनसा त्वत्पदे दास्यमनुभव्य नित्य
किं करवाणि। मीलच्चक्षुषि केलिलभ्य_शि मुहुर्दत्तामानसरे भीमे
कस्यचिदाढ्यकस्य भवने भिक्षाभिलक्षी कदाचिदपि दृशं न पुन
कुर्याम्। हे रंगेश्वर! हे श्री रगनाथ भगवान्! आप परमदयालु हैं
सदा जीवों की रक्षा करने मे उद्यत रहते है। आप ब्रह्माण्ड
मे रहने वाले जीवो के कल्याणार्थ सर्वप्रथम सत्यलोक मे पधार वहाँ
श्री ब्रह्मा जी के द्वारा आराधित रहे। अनन्तर भूलोक मे रहने
वाले मनुष्यो का उद्धार करने के लिय श्री अयोध्या में पधारे वहाँ
मनु इत्यादि सूर्यवंशी राजाओ के द्वारा आराधित होकर विराजमान
रहे। पूर्णावतार मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी ने भी
श्री जनकनन्दिनी के साथ आपकी आराधना की थी। परमपद
पधारते समय श्री रामचन्द्र जी ने सदा आपकी पूजा करते रहने
के लिये शरणागत श्री विभीषण जी के हाथ मे कुल धन आपको
समर्पित किया। आपने लङ्का पधारते समय दोनों कावेरी के मध्य
मे विराजमान श्री रंगधाम मे विराजना ही पसन्द किया। अस्म
दादि जीवो पर करुणा करके ही आपने ऐसा किया। प्रतीत होता
है कि अब आप ऐसे सकल्प लेकर शयन कर रहे है कि अस्मदादि
जीवो का उद्धार करके ही उठेंगे। आप स्वय हम लोगों की कल्याण
करने के लिये हमारे वासस्थान पर पधारे हो। आपकी दया अपार
है। आपकी दया की जय हो।

स्वत्पदे श्री भगवन् ! आप नित्य निर्दोष है, समस्त कल्याण-गुणसागर हैं, तथा सुशील स्वामी है। आपका आनन्दमय चरणारविन्द परम भोग्य है। उसकी सेवा करने के लिये किसको उत्कण्ठा न होगी।

अह लास्यवता मनसा दास्यमनुमत्य मैं आपका दास बनना चाहता हूं। मैं आपका दास बनूंगा, इस बात को समझकर मन हर्ष से नाच रहा है। दुष्कर्म के कारण लोक में दूसरो के प्रति दास बनना पड़ता है, वह दासता कर्मकृत होने के कारण दु खद होती है, सासारिक दासता मे मन सदा खिन्न रहता है। आप के लिये दास बनना जीवो का स्वाभाविक धर्म है। स्वामी बनकर विराजना आपका स्वभाव है, श्री भगवान का दास बनना जीवो का स्वभाव है। यह सम्बन्ध नित्यसिद्ध है, कभी मिटने वाला नही। शास्त्र में डंके की चोट यह बात कही गई है कि—

दासभूता· स्वत सर्वे ह्यात्मान परमात्मन ।
आत्मदास्य हरे· स्वाम्य स्वभाव च सदा स्मर ।।

अर्थात् सभी जीवात्मा स्वभावत. परमात्मा के दास है। सदा स्मरण रक्खो कि जीवात्माओ की दासता तथा श्री भगवान का स्वामित्व स्वभाव सिद्ध है। जिस प्रकार गुणवान पुत्र को पिता की सेवा करने में अपार आनन्द प्राप्त है, जिस प्रकार पतिव्रता साध्वी को पति की शुश्रूषा करने मे अपार सुख प्राप्त होता है, उसी प्रकार आप गुणनिधि सुशील स्वामी की सेवा करने में सहजदास हम लोगो को भी अपार आनन्द प्राप्त होता है। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि जीव अपने को जैसा मानता है उस मान्यता के अनुसार ही वह भोग्यवस्तु को चुनता है। शास्त्र में यह बात कही गई है कि—

अन्न भोज्य मनुष्याणाममृत तु दिवौकसाम् ।
श्वपशू विट्तृणाहारौ सन्तो दास्यैकजीवनाः ।।

अर्थात् जो जीव अपने को मनुष्य मानते है, मनुष्य शरीर को ही अपना समझते हैं उनको मनुष्य शरीर के प्रति अनुकूल प्रतीत

होने वाला मल ही परम भोग्य प्रतीत होता है। जो जीव अपने को देव मानते हैं उनको देव शरीर के प्रति अनुकूल लगने वाला अमृत ही भोग्य प्रतीत होता है जो जीव अपने को कुत्ता और पशु मानते हैं उनको विष्ठा और तृण इत्यादि ही भोज्य प्रतीत होते हैं। तथा जो जीव अपने को देह न मानकर अपने को श्री भगवान का दास मानते हैं उन सन्तों को श्री भगवान की सेवा ही परम भोग्य प्रतीत होती है तदर्थ ही उनका जीव चलता है ऐसी स्थिति में अपने को श्री भगवान का सहजदास मानने वाले हम लोगों को आपकी सेवा में अपार आनन्द मिले तो इसमें क्या आश्चर्य है। मैं सर्वेश्वर श्रीभगवान का दास हूँ, चराचरपति श्री भगवान मेरे स्वामी हैं, इस बात को समझते ही अपार आनन्द उमड पडता है, मन हर्ष के मारे नाच उठता है। इस प्रकार हर्ष से नाचने वाले मन से सलाह लेकर मैंने आज आपके प्रति दासता स्वीकार करने की पक्की प्रतिज्ञा करली है।

अनुसत्य हे श्री भगवान्! मैं आपके प्रति दासता को स्वीकार करता हूँ। स्वीकार करने के बाद ही मैं दास बनता हूँ ऐसी बात नही है। मैं तो अनादिकाल से आपका दास बना ही हुआ हूँ। क्योंकि जीव श्री भगवान का स्वरूपत दास है। जब से जीव है, तब से वह श्री भगवान का दास ही है। जीव नित्य है, जीव का दासत्व भी नित्य है। मैं अज्ञानवश जब अपने को आपका दास नही मानता था तब भी आपका दास ही बना रहा। कुछ न कुछ आपको सुख पहुँचाने के लिये करता ही रहा। भले ही मैं आपको सुख पहुँचाने के भाव से न करूँ तो भी मेरी करनी से आपको सुख मिलता ही था। यहाँ तक कि संसार में आपके प्रति प्रतिकूल आचरण करते समय भी मैं आपको लीलारस का अनुभव कराता था। आप मेरे प्रतिकूलाचरण को देखकर अधिकाधिक दण्ड देकर प्रसन्न होते थे। मेषयुद्धलीला तथा कुक्कटयुद्धलीला इत्यादि में उन लीलाओं का आयोजन करने वालों को उन युद्धों को देखकर आनन्द मिलता है किन्तु उस लीलाविभूति में भाग लेने वाले मेष और कुक्कट

इत्यादि को दुःख ही मिलता है उसी प्रकार इस लीलाविभूति में लीला में भाग लेने वाले हम दोनों में आपको लीलारस मिलता था, क्योंकि आप अपराधियों को दण्ड देकर प्रसन्न होते थे, इस लीला में हम लोगों को तो दुःख ही मिलता था। कुछ भी हो, संसार में दासता को न समझते समय में आपको लीलारस पहुँचाता ही रहा। इस प्रकार मैं आपको लीलारस पहुँचाकर दास ही बना रहा। दासता मुझसे कभी नहीं छूटी। नित्यदास बनने पर भी दासता को न समझने के कारण मुझको प्रतिकूलाचरण के फलस्वरूप दण्ड भोगना पड़ा। अब मैंने दासता को समझ लिया, तथा उसे स्वीकार भी किया। स्वीकार करने का यह फल होगा आज से मैं प्रतिकूला-चरण छोड़कर अनुकूलाचरण करता हुआ आपके अनुग्रह का पात्र बनकर आपके भोगरस का वर्धक बनूंगा। भोगरस में आपको भी आनन्द होगा तथा मुझे भी आनन्द प्राप्त होगा। भगवद्दास्य को स्वीकार कर मैं यह चाहता हूँ कि—नित्य किं करवाण्यहम् सदा मैं आपका कैङ्कर्य करता रहूँ, सर्वदेश सर्वकाल एवं सर्वविध अवस्था में आपका कैङ्कर्य करता रहूँ। वह कैङ्कर्य भी अपने स्वार्थ के लिये न करूँ, किंतु केवल आप के लिये ही करूँ, आपका मुखोल्लास ही प्रधान उद्देश्य हो। चेतन होने के कारण यदि मुझे कुछ आनन्द मिले तो वह आनुषङ्गिक ही माना जायगा। वह प्रधान उद्देश्य न होगा। न तदर्थ ही कैङ्कर्य किया जायगा। केवल आपके संतोष के लिये ही कैङ्कर्य किया जायगा। इस प्रकार केवल परार्थ कैङ्कर्य सदा करता रहूँ। यही प्रार्थना है, हे श्री भगवन्! कृपया आप इस मनोरथ को पूर्ण करदें।

किं करवाण्यहम् इस प्रकार कैङ्कर्य करने पर ही मुझको सत्ता प्राप्त होगी। अब तक मैं कैङ्कर्य छोड़कर विनष्ट प्राय हो गया था, मेरे आत्मस्वरूप की सत्ता, विकास, उज्ज्वलता कैङ्कर्य में ही निहित है, कैङ्कर्य करने पर ही वे प्राप्त हो सकेंगे।

मीलरदक्षोऽपि इत्यादि। हे श्री भगवन्! मेरी दूसरी प्रार्थना भी है, उसे भी आप कृपया पूर्ण करदें। वह प्रार्थना यह है कि मुझे

किसी क्लिष्ट अवस्था में भी कृपणों का आश्रय लेना न पड़े, उनके द्वार पर जाना न पड़े उनसे कुछ मांगना न पड़े। लोभी कृपणों के मुख को तो मै आंख उठाकर भी देखना नही चाहता हूं मुझे उस मुख का ध्यान करते ही भय होता है। उनका मुख कैसा होता है मीलच्चक्षुषि गर्व से उनके नेत्र सदा आधे मिचे हुए रहते है, समस्त उपस्थित याचकों पर उनका आदर भाव नही है, अतएव वे नेत्र खोलकर उन्हे देखना नही चाहते, गर्व और अनादर भाव से उनके नेत्र हाथियों के नेत्र की तरह सदा अर्धनिमीलित ही रहते हैं। कभी नेत्र खोलकर देखने भी लगें तो वेल्लितभ्रुणि क्रोध से उनकी भौहे चढ़ जाती हैं। इन याचकों का दर्शन एक प्रकार से महान अपशकुन हुआ नेत्र खोलते ही अपशकुन देखना पड़ा ऐसा समझकर वे क्रोधान्ध हो जाते है उनकी भौंहे टेढी हो जाती है कुटुवचनाव मानासरे वे क्रोधान्ध अर्ध नेत्र मीचकर भौहे चढाकर नाना प्रकार के कटुवचन सुनाने लगते है, उनके मुख से निकलने वाले प्रत्येक शब्द से अपमान टपकता रहता है। प्रतीत होता है कि वे सम्मान करने का एक भी शब्द नही जानते। एकाधबार व कटुवचन कहते हों सो बात नही। किंतु बारम्बार वे अपमानजनक शब्दों का उच्चारण करते रहते है थकते कभी नही। जिस प्रकार वल्मीक से सर्प निकलते रहते है उसी प्रकार उनके मुख से निन्दा शब्द निकलते रहते हैं वे समस्त उपस्थित याचकों को अपार दुःख देते हैं। प्रतीत होता है कि उनके पास अपशब्द के सिवाय दूसरा कोई शब्द है ही नही इसलिये वे अपशब्दो को ही प्रदान करते हैं। वह मुख बहुत भयंकर प्रतीत होता है, जिसमे भौहे चढ़ी हो जिससे गाली शब्दों की धारा निकलती रहती हो। जिसमे गर्व और अनादरभाव नाचते हों वह मुख अत्यन्त भयंकर ही होगा। उस मुख का आकलन करते ही हम को रोमाञ्च होने लगता है उस मुख को मैं देखना तक नही चाहता। कस्यचित्वाक्यकस्य मैं उस धनिक का नाम तक लेना नही चाहता। पुण्यात्माओं का नाम लेने से पुण्य प्राप्त होगा, पापियों का नाम लेने से पाप ही तो प्राप्त होगा। इसलिये मैं उनका नाम नही

लेना चाहता । आढ्यकस्य वे वास्तव में विशिष्ट धनिक नहीं है । धनिक का स्वाग धारण करते हैं, इतना ही है । यदि विशिष्ट धनिक होते तो सम्मान के साथ बात करते । कृति से प्रतीत होता है कि वे क्षुद्र धनिक है । उनका मुख तक मैं देखना नही चाहता । उनके सामने उपस्थित होकर उनके उस भयकर मुख पर दृष्टिपात कर कुछ मागना तो सर्वथा अशक्य है । उनके मुख से निकलने वाले उन अपमानजनक शब्दो को सुनते ही लज्जा से वाणी बाहर निकलना ही नही चाहती । मागने के पूर्व ही मेरे नेत्र लज्जाभाव को व्यक्त करते रहते हैं । सभी भाव नेत्रो मे झलकते रहते है । मागने मे लज्जा होती है, लज्जा से वाणी नही निकलना चाहती, मन कुण्ठ जाता है, शरीर मे सकोच छा जाता है, असह्य वेदना सताती है । हे श्री भगवन् ! मै यही चाहता हू कि उन क्षुद्रधनिको के भयकर मुख पर भीख मागने के लिये मुझको दृष्टिपात करना न पड़े । मेरी इस प्रार्थना को आप पूर्ण करदें, तथा अपनी सेवा देकर कृतार्थ बना दे यही प्रार्थना है । यह प्रार्थना भी आप से ही पूर्ण हो सकती है । आपने मेरे रक्षाभार को अपने ऊपर ले लिया है । हमारी इस निर्दुष्ट प्रार्थना को पूर्ण करना आपको न्यायप्राप्त है । अत आपसे यह निवेदन किया गया है । आशा है आप अवश्य पूर्ण करेंगे ॥२७॥

(२८)

त्वय्येकाञ्जलिकिकरे तनुभृता निर्व्याजसर्वंसहे
कल्याणात्मनि रङ्गनाथ कमलाकान्ते मुकुन्दे स्थिते ।
स्वामिन् पाहि वयस्व देहि कुशलं जीव प्रभो भावये-
त्यालापानवलेपिषु प्रलपितुं जिह्रेति जिह्वा मम ॥

पूर्व श्लोक मे श्री देशिक स्वामी जी ने श्री रगनाथ भगवान से यह प्रार्थना की, कि हे प्रभो ! आप कृपा करके मेरे इन मनोरथों को पूर्ण करें, मैं चाहता हूँ कि बड़े हर्ष से आपका दास बनकर सदा कैङ्कर्य करता रहूँ, तथा लोभी क्षुद्र प्रभुओ के भयकर मुख को देखने

किसा क्लिष्ट अवस्था में भी कृपणों का आश्रय लेना न पडे, उनके द्वार पर जाना न पड़े उनसे कुछ मांगना न पडे। लोभी कृपणों के मुख को तो मै आंख उठाकर भी देखना नही चाहता हूं मुझे उस मुख का ध्यान करते ही भय होता है। उनका मुख कैसा होता है मीलच्चक्षुषि गर्व से उनके नेत्र सदा आधे मिचे हुए रहते हैं, समक्ष उपस्थित याचकों पर उनका आदर भाव नही है, अतएव वे नेत्र खोलकर उन्हे देखना नही चाहते, गर्व और अनादर भाव से उनके नेत्र हाथियों के नेत्र की तरह सदा अर्धनिमीलित ही रहते हैं। कभी नेत्र खोलकर देखने भी लगे तो वेल्लितभ्रुणि क्रोध से उनकी भौंहे चढ जाती हैं। इन याचकों का दर्शन एक प्रकार से महान अपशकुन हुआ, नेत्र खोलते ही अपशकुन देखना पड़ा ऐसा समझकर वे क्रोधान्ध हो जाते है उनकी भौंहे टेढी हो जाती है मुहुरवाप्त मासाक्षरे वे क्रोधान्ध अर्ध नेत्र मीचकर भौंहे चढाकर नाना प्रकार के कटुवचन सुनाने लगते है, उनके मुख से निकलने वाले प्रत्येक शब्द से अपमान टपकता रहता है। प्रतीत होता है कि वे सम्मान करने का एक भी शब्द नही जानते। एकाधबार वे कटुवचन कहते हों सो बात नही। किन्तु बारम्बार वे अपमानजनक शब्दों का उच्चारण करते रहते हैं थकते कभी नही। जिस प्रकार वल्मीक से सर्प निकलते रहते है उसी प्रकार उनके मुख से निन्दा शब्द निकलते रहते हैं वे समक्ष उपस्थित याचको को अपार दुःख देते हैं। प्रतीत होता है कि उनके पास अपशब्द के सिवाय दूसरा कोई शब्द है ही नही इसलिये वे अपशब्दो को ही प्रदान करते हैं। वह मुख बहुत भयकर प्रतीत होता है जिसमे भौंहे चढी हो जिससे गाली शब्दों की धारा निकलती रहती हो। जिसमे गर्व और अनादरभाव नाचते हों वह मुख अत्यन्त भयकर ही होगा। उस मुख का आकलन करते ही हम को रोमाञ्च होने लगता है उस मुख को मैं देखना तक नहीं चाहता। कस्यचिदाढ्यकस्य मैं उस धनिक का नाम तक लेना नही चाहता। पुण्यात्माओं का नाम लेने से पुण्य प्राप्त होगा, पापियों का नाम लेने से पाप ही तो प्राप्त होगा। इसलिये मैं उनका नाम नही

एव मागने का प्रसग नही आवे । इस श्लोक में श्री वेदिक स्वामी जी श्री रगनाथ भगवान से विनय करते हैं कि परत्व और सौलभ्य के निधि आप रक्षा करने के लिये सदा उद्यत करते है, ऐसी स्थिति मे क्षुद्र प्रभुओं के यहाँ जाकर उनके समक्ष नानाप्रकार की व्यर्थ प्राथना करने में मुझे बहुत सकोच होता है, जिह्वा कुण्ठित हो जाती है, इस बात को आप जानते ही है। इसलिये प्रार्थना है कि आप ऐसी कृपा करें कि यदि मुझे कुछ प्रार्थना करनी पड़े तो आपके सन्निधि मे ही करें।

हे रङ्गनाथ ! सकृत्सुधामैकाञ्जलिकिङ्करे निष्यंजराधसहे कल्याण-स्तनि कमलाकान्ते मुकुन्दे त्वयि स्थिते अवसेपितु स्वामिन् पाहि वयस्व कुशल देहि प्र०ो मामयेत्याशायान् प्रलपितु मे जिह्वा जिह्वेति । हे श्री रङ्गनाथ भगवान् ! आप मे दो विशेषतायें विद्य मान है–(१) परत्व और (२) सौलभ्य । आप सब से सब तरह से बड़े है इसलिये आप मे सर्वस्मात् परत्व माना जाता है । सब से बडे होते हुए भी आप अत्यन्त सुलभ भी है। आप मे परत्व और सौलभ्य विद्यमान होने के कारण ही आपसे जगत का कल्याण होता रहता है। यदि आप केवल बडे होते सुलभ नही होते जीवों को आपका आश्रय लेना ही कठिन हो जाता कल्याण होना तो असम्भावित ही था। यदि आप केवल सुलभ होते सर्वश्रेष्ठ नही होते तो शक्ति आदि गुणों की न्यूनता के कारण जगत का कल्याण सिद्ध नही होता। स्वर्णमय होने से श्रेष्ठ होने पर भी सुमेरु पर्वत दुलभ होने से जीवो का अनुपकारक है, कंकड़ और पत्थर इत्यादि सुलभ होने पर भी महत्व न होने के कारण निरर्थक रह जाते हैं। आप में परत्व और सौलभ्य दोनों विद्यमान है। सौलभ्य होने से जीव अनायास आपका आश्रय लेते हैं। आप में अपार प्रभाव होने से जीवों की रक्षा भी सरलता सफल हो जाती है।

आप सुलभ इतने है कि सकृत्कृतामैकाञ्जलिकिङ्करे कोई प्राणी यदि आपके समक्ष एकबार भी हाथ जोड़ दे तो पर उनके लिये

किंकर अर्थात् सेवक बन जाते हैं। उनके सर्वविध मनोरथों को पूर्ण करते हुए सदा उनको प्रसन्न करने के लिये उद्यत रहते हैं। अञ्जलि बांधना तो सरल कार्य है, तदर्थ आप यदि उनकी सेवकाई करते है तो इसे सौलभ्य की पराकाष्ठा ही समझना चाहिये। एकबार अञ्जलिबन्ध ही आपको प्रसन्न करने के लिये पर्याप्त है, यदि अनेक बार अञ्जलि बांधी जाये, वह आपको भारस्वरूप प्रतीत होता है। इसलिये तो अभयमुद्रा के द्वारा एकबार की गई अञ्जलि के लिये अभय देते हुए अनेक बार की जानेवाली अञ्जलि को मना कर रहे है। उस समय आपकी अभयमुद्रा निषेधसूचक मुद्रा के रूप मे परिणत हो जाती है। एक अञ्जलि के लिये भी किंकर बनकर आप अपार सौलभ्य को व्यक्त कर रहे है। आपका सौलभ्य दूसरे प्रकार से भी व्यक्त होता है।

तनुभृतां निर्व्याजसर्वंसहे आपका आश्रय लेने वाले सब तरह के प्राणियो के सर्वविध अपराधो को भी आप क्षमा कर देते है। आप जो अपनी स्वाभाविक कृपा से सब अपराधो को क्षमा कर देते है उस पर दृष्टिपात करने पर प्रतीत होता है कि भक्ति और शरणागति इत्यादि साधन भी उसके लिये पर्याप्त साधन नही हैं। आप कृपा करके उन्हे निमित्त बनाकर क्षमा करते है। परन्तु विचारने से यही सिद्ध होता है कि ये उन भयकर अपराधो को क्षमा करने में पर्याप्त साधन नही है आपको अपराधो को क्षमा करने मे सहज रुचि है इसलिये आप क्षमा करते है। इन साधनो को जो आप निमित्त बनाते है उसमे यही रहस्य है कि आपने वैषम्य और निर्दयत्व इत्यादि दोषो से बचने के लिये ऐसी व्यवस्था की है यह आपकी लीला है। आप सहज दया से निर्हेतुक ही सर्व अपराधो को क्षमा करने वाले हैं यह पक्की बात है। इससे भी आपका परम सौलभ्य प्रमाणित होता है।

आप परम सुलभ हैं, इतना ही नही, आपमें परत्व अर्थात् सर्व प्रकार से बड़प्पन भी है। आपका बड़प्पन इसी मे है कि आप

कल्याणात्मनि परममंगलस्वरूप है। आपसे जगत का कल्याण ही हो सकता है, कभी अकल्याण हो ही नहीं सकता। किंच कल्याणात्मनि आप ज्ञानानन्द स्वरूप हैं। आपमें अन्दर और बाहर आनन्द ही आनन्द भरा है। जिस प्रकार मिश्री में अन्दर बाहर और चारों तरफ मधुर रस ही व्याप्त रहता है उसी प्रकार आप में सर्वत्र आनन्द व्याप्त रहता है। आनन्दमय आपके स्वरूप का बड़प्पन सर्वोपरि है। किंच कल्याणात्मनि जिस प्रकार आपका स्वरूप सर्वोत्तम है उसी प्रकार आपका दिव्य विग्रह भी परम विलक्षण है। उसमें सौन्दर्य यौवन सौकुमार्य और लावण्य इत्यादि गुण भरे हैं। आपका स्वरूप परममंगलकारी है परन्तु साधक उसका आरम्भ में आकलन नहीं कर सकते। आपका दिव्य विग्रह अनायास आकलन करने योग्य है तथा परम मंगलकारी भी है, इसलिये उसे शुभाश्रय कहते हैं। ऐसा दिव्य विग्रह दूसरे किसी का नहीं होता है इससे भी आपका परत्व झलकता है।

कमलाकान्ते आप लक्ष्मीपति हैं, लक्ष्मीकटाक्ष से सब तरह का वैभव प्राप्त होता है। ब्रह्मा इत्यादि देवतागण श्री महालक्ष्मी जी की कृपादृष्टि के अवलेश को प्राप्त करने के लिये सदा लालायित हैं। सर्वमंगलनिधि करुणामूर्ति जगन्माता उन महालक्ष्मी जी के आप अनुरूप मनोहर पति हैं। श्रीमहालक्ष्मी जी आपको कभी छोड़ना नहीं चाहती। जब आप अवतार लेते हैं तब वह भी साथ अवतार लेती हैं। सर्वकल्याणप्रदा महालक्ष्मी जी के प्रेमपात्र आप हैं। इससे भी आपका बड़प्पन चरम सीमा तक पहुँच जाता है।

मुकुन्दे स्वयि स्थिते सति करुणामूर्ति अनुग्रहमयी जगन्माता श्रीमहालक्ष्मी जी की प्रेरणा से आप भोग और मोक्ष सब कुछ देने के लिये सदा सन्नद्ध रहते हैं। मोक्षानन्द देने के लिये उपयुक्त परम धाम में लेजाकर उनको मोक्षसाम्राज्य पर आसीन करने के लिये आप लालायित रहते हैं। इस प्रकार परत्व और सौलभ्य को सिद्ध

करने वाले सर्वविधमंगलगुणों से विभूषित आप विद्यमान रहते हैं। ऐसे आप विराजमान रहते समय में दूसरों के यहाँ जाकर कैसे उन प्रार्थनाओं को व्यक्त करूँ जिन प्रार्थनाओं को आपके सन्निधि में करना नितान्त उचित है। उनके यहाँ जाकर क्या २ कहना पड़ता है। उसे ध्यान में लाते ही हँसी आती है। उनके यहाँ जाकर क्या क्या कहना पडता है कि—स्वामिन् पाहि दयस्व देहि कुशलं जीव प्रभो भावय हे स्वामी जी! मेरी रक्षा कीजिये, मुझ पर दयाभाव रखिये, मुझको आप कुशल दें, आप सैकडो वर्षों तक जीते रहिये, मुझे अपना आश्रित समझिये, मेरी उन्नति कीजिये इत्यादि रूप से उनके समक्ष प्रार्थना करनी पडती है। क्या ये सब प्रार्थनायें उनके सामने करने योग्य हैं? क्या वे यथार्थ में स्वामी हैं, क्या मैं वास्तव में उनका दास हूँ, क्या वे रक्षा करने में समर्थ हैं। जो स्वयं अरक्षित है वे कैसे रक्षा कर सकते हैं, क्या उन निर्दयों से दया की भिक्षा मांगना मूर्खता नहीं है? जो स्वयं अमंगलों से प्रताडित हैं वे क्या मंगल देंगे जो जन्म काल में ही मृत्यु से ग्रस्त हैं, उनसे जीओ जीओ कहना क्या परिहास नहीं है? जो नाना प्रकार की परतन्त्रता की बेडियों से जकडे हुए हैं उन्हें प्रभो प्रभो कहना क्या अज्ञान नहीं है। उनसे यह कहना कि—आप मुझे अपनी आश्रित कोटि में समझें—कितनी शोचनीय बात है। जिनके यहाँ जाकर इस प्रकार प्रार्थना की जाती है क्या वे इन प्रार्थनाओं को सुनने के लिये तैयार हैं? नहीं, वे सुनने के लिये तैयार नहीं अवलेपिषु वे बड़े गर्वीले हैं, मदोन्मत्त हैं वे सुनने के लिये तैयार नहीं किंतु नाना प्रकार से अपमानित करने के लिये सन्नद्ध हैं।

प्रलपितु मे जिह्वा जिह्रेति उनके यहाँ जाकर इस प्रकार प्रार्थना करना कोई अर्थ नहीं रखता, वह तो केवल एक अर्थहीन प्रलयमात्र है। उनके समक्ष इस प्रकार प्रलाप करने के लिये मेरी जिह्वा उद्यत नहीं होती, वह तो लज्जा के मारे सिकुडती जाती है। उससे एक शब्द निकलना भी कठिन है। यह मेरी वास्तविक स्थिति है। इसे आप जानते ही हैं। इसलिये हे श्री भगवन्, प्रार्थना है कि

यदि इस प्रकार प्रार्थना करने की आवश्यकता हो तो वह आपके समक्ष ही हो, उससे स्वरूप भी उज्ज्वल होगा ॥२८॥

(२६)

त्वयि सति रङ्गधुर्य शरणागतकामदुघे
निरवधिकप्रवाहकरुणापरिणाहवति ।
परिमितदेशकालफलदान् फलवाकृतिकान्
कथमधिकुर्महे विधिशिवप्रमुखाननुकान् ॥

पूर्व श्लोक मे श्री देशिक स्वामी जी ने श्री रङ्गनाथ भगवान को सम्बोधित कर कहा कि मुझको दूसरों के यहाँ जाकर नाना प्रकार से प्रार्थना करने मे लज्जा होती है, वैसी प्रार्थना आपके सन्निधि मे करनी चाहिये। इस श्लोक मे श्री देशिक स्वामी जी श्री भगवान को संबोधित कर विनती करते है कि इस लोक मे किसी से प्रार्थना करने की इच्छा नही होती इतना ही नही किंतु श्री ब्रह्मा जी श्री शिव जी इत्यादि देवताओं से भी प्रार्थना करने की इच्छा नही होती क्योंकि सर्वफलप्रद आपके विराजमान रहते मुझको देवतान्तरों से प्रार्थना करने की क्या आवश्यकता ? इस प्रकार देशिक स्वामी जी इस श्लोक मे अनन्यता का आदर्श उपस्थित करते है।

हे रङ्गधुर्य ! निरवधिकप्रवाहकरुणापरिणाहवति शरणागत कामदुघे त्वयि सति परिमितदेशकालफलदान् फलवाकृतिकान् अणुकान् विधिशिवप्रमुखान् कथमधिकुर्महे।

हे श्री रङ्गनाथ भगवन् ! आपमे अपरिमित कल्याणगुण है उनमें करुणा प्रधान है। करुणा से ही जीवो का उद्धार होता है। करुणागुण बहुत विस्तृत है आपमे सर्वत्र करुणा छाई हुई है। निरवधिकप्रवाहकरुणापरिणाहवति आपमे करुणागुण अधिक मात्रा में होने के कारण वह आप में समाने नही पाता, वह अनेक प्रवाहों का रूप लेकर जीवो पर प्रवाहित होता है। सौशील्य वात्सल्य क्षमा

उदारता मार्दव आर्जव और कृतज्ञता इत्यादि गुणों का धारण कर कर करुणा जीवों पर प्रवाहित होता रहती है। उसके प्रवाह की ऐसी कोई अवधि नहीं कि यहाँ तक ही फैले यहाँ न फैले, करुणा का प्रवाह तो सब को डुबाता सर्वत्र फैलता रहता है। जिस प्रकार प्रवाह अधिक बढ़ने पर ऊँची भूमि तक डूब जाती है, ऊँची भूमि के ऊपर भी प्रवाह बहने लगता है उसी प्रकार करुणा का प्रवाह आश्रितों के उन सम्बन्धियों के ऊपर भी—जो पापात्मा होने के कारण करुणा के अयोग्य हैं अतएव ऊँची भूमि के समान है—प्रवाहित होने लगता है। श्री प्रह्लाद जी के विषय में प्रवृत्त आपकी करुणा का प्रवाह उसके अनधिकारी पिता के ऊपर भी बह गया। अतएव शास्त्र में कहा गया है कि श्री भगवान अपने आश्रितों की २१ पीढ़ियों का भी उद्धार करते हैं। इस प्रकार पापात्मा जीवों पर भी करुणा प्रवाह को प्रवाहित करने वाले अपार करुणासमुद्र आप हैं। ऐसे करुणासिन्धु होने के कारण ही आप शरणागत-कामदुघे शरणागतों के सर्वविध मनोरथों को पूरा करते हैं।

त्वयि सति जब अपार करुणावरुणालय एवं शरणागतमनो-रथपूरक आप विद्यमान हैं तब मैं दूसरे देवताओं का आश्रय क्यों लूँ? हाँ! दूसरे देवता यदि आपसे अधिक देने वाले हों तब उनका आश्रय लेना भी एक प्रकार से उचित ठहर सकता है, किन्तु वे देवता आपसे अधिक फल देने वाले नहीं हैं।

किंतु परिमितदेशकालफलदान् वे ऐसे ही फल देते हैं जो परि-मित देश में परिमित काल तक ही मिल सकते हैं। ऐसे अनित्य फल देने वाले देवताओं का आश्रय लेने में क्या लाभ? आप स्थायी मोक्षपद तक देने के लिये सन्नद्ध हैं। ऐसी स्थिति में आपको छोड़कर उनका आश्रय क्यों लिया जाय।

देवताओं के द्वारा दिया जाने वाला फल नश्वर क्यों होता है? कारण यह है कि—फलदाकृतिकान् देवतागण अधिक से अधिक ---- होने पर अपना सायुज्य दे सकते हैं, स्वयं जैसा सुख भोगते हैं

वैसा सुख दे सकते हैं, उससे अधिक नही। देवतागण जब तक अपने पद मे रहते हैं तब तक ही आश्रितों को वसा भोग दे सकते हैं। महाप्रलय उपस्थित होने पर देवताओं को भी मरना पडता है, वे पदच्युत होकर नष्ट हो जाते हैं उनका शरीर फटकर नष्ट हो जाता है। ऐसी स्थिति मे जब उनको बने रहना ही कठिन हो जाता है तब वे अपने आश्रितो को सुखभोग की गारण्टी कैसे दे सकते हैं ? इसलिये आश्रयदाता देवताओं के पदच्युत होते ही उनके आश्रितो को भी स्वर्ग इत्यादि भोग से हाथ धोना पडता है। अतएव सत्य लोक पर्यन्त सुखभोग नश्वर माना जाता है।

विधिशिवप्रमुखानमुकान् कथमधिकुमहे ऐसी स्थिति में ब्रह्मा रुद्र इत्यादि देवताओं का—जो नश्वर फल ही दे सकते हैं—आश्रय हम क्यों लें, हम उनका उपासन क्यों करें ? इस जगत में आप एक ही नित्य तत्त्व हैं आप एक ही अविनाशी स्थायी मोक्षपद देने वाले हैं हम आपका ही आश्रय लेकर कृतकृत्य कृतार्थ एवं धन्य बनेंगे। दूसरे देवताओं से हमारा कोई सरोकार नही है, यही हमारी अनन्यता है। अनन्यता मे ही कल्याण है, अनन्य आश्रितों का ही आप उद्धार करते हैं ॥२९॥

(३०)

ओमित्यभ्युपगम्य रङ्गनृपते नान्योचिता शेषता
स्वातन्त्र्याभिमर्ती व्यपोह्य महतीमाद्यामविद्यास्थितिम् ।
नित्यासख्यविसीमभूम (ति) गुणयोर्यायामनायासत
सेवासपदमिन्दिरेश युवयोरकान्तिकात्यन्तिकीम् ॥

पूर्व श्लोक मे श्री देशिक स्वामी जी ने प्रपन्नों को देवतान्तर परित्यागपूर्वक परमकान्ती अर्थात् अनन्य बनने का आदेश उपस्थित किया। इस श्लोक मे श्री देशिक स्वामी जी मूलमन्त्र अर्थात् श्रीमदष्टाक्षर मन्त्र के अर्थका अनुसन्धान करते हुए तथा मन्त्रार्थ के विषय में अपनी निष्ठा को व्यक्त करते हुए श्री रङ्गनाथ भगवान से कैङ्कर्य प्रार्थना करते हैं।

हे इन्दिरेश रङ्गनृपते नान्योचिता शेषतामोमित्यभ्युपगम्य
हे श्री भगवन् ! आप श्री महालक्ष्मी जी के परमप्रिय पति हैं, अतएव आप सर्वश्रेष्ठ हैं, इस प्रकार परात्पर होते हुए भी आप अस्मदादियों के उद्धारार्थ परमसुलभ बनकर श्री रङ्गधाम में श्री रङ्गनाथ के रूप में विराज रहे हैं। मदाचार्य ने कृपाकर हमको श्रीमदष्टाक्षर महामन्त्र का सार्थक उपदेश दिया। मैं अष्टाक्षरस्थ तीन पदों से प्रतिपादित अर्थों में अविचल निष्ठा रखता हूँ। महामन्त्र अष्टाक्षर में प्रथम पद ओंकार जीव को श्री भगवान का शेष अर्थात् दास बतलाता है। वह इस प्रकार है कि—ओंकार में अ उ म ऐसे तीन अक्षर हैं। एक एक अक्षर एक एक पद है। इनमें "अ" यह प्रथम अक्षर श्री विष्णु भगवान को बतलाता है। "अ" यह अक्षर "अव्" धातु से बना है जिसके रक्षण इत्यादि अनेक अर्थ हैं। यहाँ पर प्रधान रक्षण अर्थ लिया जाता है। श्री विष्णु भगवान सर्व जगत की रक्षा करने वाले हैं इतना ही नहीं, किन्तु सर्व जगत की उत्पत्ति रक्षा और प्रलय भी वे ही करते हैं। अवतीति अ इस व्युत्पत्ति के अनुसार सर्व रक्षक श्री भगवान "अ" शब्द का अर्थ है। "म्" का अर्थ जीवात्मा है। तत्त्वसागरसंहिता में बतलाया गया है कि "क ख ग घ ङ" ये पाँच अक्षर पञ्च महाभूतों के वाचक हैं, 'च छ ज झ ञ' ये पाँच वर्ण कर्मेन्द्रियों के वाचक हैं। "ट ठ ड ढ ण" इन पाँच वर्णों से पाँच तन्मात्र कहे जाते हैं, "प" वर्ण मन को "फ" अहङ्कार को "ब" अक्षर महत्त्व को "भ" अक्षर प्रकृति को बतलाता है। "म" यह अक्षर जीवात्मा को बतलाता है जो प्रकृति से अत्यन्त विलक्षण है। इस निरूपण से सिद्ध होता है कि मकार जीव वाचक है। यह मकार व्याकरणप्रक्रिया के अनुसार "मन ज्ञाने" "मदी हर्षे" "मसी परिमाणे" इन तीनों धातुओं से निष्पन्न होकर ज्ञानानन्दमय एवं अणुपरिमाणवाले जीवात्मा को बतलाता है अथवा यह मकार अस्मच्छब्द से "अस्" और "अद्" भाग का लोप होने पर "म्" ऐसा बचा हुआ रूप है। यह तो सर्वविदित है कि अस्मच्छब्द चेतन को बतलाता है। अस्तु।

इस विवेचन से सिद्ध होता है कि "अ" यह अक्षर जीववाचक है। "उ" यह मध्यमाक्षर एक पक्ष मे लक्ष्मीवाचक है, दूसरे पक्ष मे अवधारण अर्थात् निश्चय का द्योतक है। "अ" के ऊपर चतुर्थी विभक्ति लुप्त है। संस्कृत मे "उ" का पर्याय एव शब्द है। लुप्त विभक्ति को मिलाकर देखने पर 'अ उ म्' ये तीनो पद "आय उ म्" ऐसा बन जाते है उनका अर्थ यह होता है कि जीवात्मा श्री भगवान के लिये बना है। यदि कोई पदार्थ दूसरे को उपकार करने के लिये रहता हो तो उस पदार्थ को शेष कहते है। उससे उपकार पानेवाले को शेषी कहते हैं। ओंकार से सिद्ध होता है कि जीव श्री भगवान के लिये ही बना है इससे फलित होता है कि जीव किसी न किसी प्रकार से श्री भगवान का उपकार करने के लिये ही बना है दूसरों को उपकार करना जीव का प्रधान कर्तव्य नही है स्वयं उपकार पाना भी जीव का प्रधान उद्देश्य नही है। ये सब गौण है। श्री भगवान का उपकार करना, किसी न किसी प्रकार श्रीभगवान के उपयोग मे आना यही जीव का प्रधान कर्तव्य है। इससे सिद्ध होता है कि जीव श्री भगवान का ही शेष है, दूसरों का नही। इसी शेषता को दासता कहते है। श्री देशिक स्वामी जी कहते है कि मैने श्रीमदष्टाक्षर महामन्त्र मे ओंकार से प्रतिपाद्य अर्थ को हृदय से स्वीकार कर लिया तथा यह निश्चय कर लिया कि मै श्री भगवान का ही शेष हूँ, दूसरो का शेष नही हूँ, आज से मै श्री भगवान को सुख पहुँचाने के लिये ही कार्य करूँगा, दूसरो को सुख पहुँचाने के लिये कार्य करना मेरे स्वरूप के विरुद्ध है। स्वयं सुख पाने के लिये स्वार्थबुद्धि से कार्य करना भी स्वरूपविरुद्ध ही है। इस प्रकार श्री भगवच्छेषता को स्वीकार करने से मेरे कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो गया है। यह निश्चित सिद्धान्त है कि—

> निश्चिते परशेषत्वे शेषं सम्परिपूर्यते ।
> अनिश्चिते पुनस्तस्मिन् अन्यत् सर्वमसत्समम् ॥

अर्थात् यदि जीव निश्चय करले कि मै श्री भगवान का दास हूँ यह निश्चय सुदृढ प्रतिष्ठित होने पर उत्तरकाल मे अन्य कार्य विशेषताये

भी प्राप्त की जा सकती हैं यदि जीव अपने को श्रीभगवान का दास नही मानता हो तो उसमें विद्यमान कर्म ज्ञान भक्ति इत्यादि विशेषताये नही के बराबर है, उनसे कुछ भी लाभ नही हो सकता। जिस पतिव्रता स्त्री का मगलसूत्र अत्यावश्यक है, यदि सौभाग्यचिह्न मगलसूत्र रहे, अन्यान्य भूषण भले ही न रहे, तो भी वे भूषण उत्तरकाल मे प्राप्त किये जा सकते हैं, यदि सौभाग्यचिह्न मगलसूत्र न रहे तो वह विधवा ही मानी जायगी, वह विधवा यदि विविध भूषणो को धारण करे तो उससे उसकी निन्दा ही होगी, उसी प्रकार यदि जीव को भगवद्दासत्व निश्चय हो तो अन्यान्य कर्म ज्ञान भक्ति और वैराग्य इत्यादि विशेषतायें उत्तरकाल मे प्राप्त की जा सकती हैं। यदि जीवात्मा मे भगवद्दासत्व निश्चय न हो तो उसमे विद्यमान कर्म ज्ञान भक्ति वैराग्य इत्यादि विशेषताओ से कुछ भी लाभ नही होता प्रत्युत साधुसमाज मे बदनामी ही होगी। इसलिये सर्वप्रथम जीवात्मा को अपने को श्री भगवान का स्वाभाविक दास मान लेना चाहिये। इसलिये यहाँ पर श्री देशिक स्वामी जी कहते है कि हे श्री रगनाथ भगवन्! मै ओकारार्थ को पूर्णरूप से हृदयगम कर आपका दास बन गया हूँ, दूसरो का दास न बनूगा।

स्वातन्त्र्यादिमयीं महतीमाद्यामविद्यास्थितिं व्यपोह्य।

हे श्री भगवन्! श्रीमदष्टाक्षर महामन्त्र मे दूसरा पद जो "नम" शब्द है उसी के अर्थों को मैने सुष्ठु प्रकार से हृदयगम कर ससार के मूलभूत अज्ञानान्धकार को सर्वदा के लिये दूर कर दिया। स्वस्वरूप को यथार्थ रीति से न समझना तथा विपरीत समझना इत्यादि अज्ञान है। इस अज्ञान के कारण ही जीव ससार मे फसा है। यह अज्ञान दो प्रकार का है (१) अहकार (२) ममकार। अहकार दो प्रकार का है (१) अपने को देह आदि के रूप मे समझना अर्थात् देह आदि को ही "मैं" ऐसा मान लेना और (२) अपने को स्वतन्त्र मानना। यह वस्तु मेरी है, ऐसा समझना ममकार है। इस अहकार और ममकार के कारण ही जीव ने ससार को अपने ऊपर ले रक्खा है, कभी उतारना नही चाहता।

इसमें देहात्मभ्रमरूपी अहंकार, ओंकार में मकारार्थ को हृदयंगम करने से दूर हो गया, क्योंकि मकार चौबीस प्रकार के प्रकृतितत्त्वों से विलक्षण जीवात्मा को बतलाता है इससे सिद्ध होता है कि जीवात्मा देह इत्यादि प्राकृत पदार्थों से परे है। मैं प्रकृति और प्राकृत पदार्थों से सर्वथा भिन्न हूँ ऐसा समझने से देहात्मभ्रमरूपी अहंकार नष्ट हो जाता है। स्वतन्त्रात्मभ्रमरूपी अहंकार तथा ममकार ये दोनों भ्रम 'नम' शब्द के अर्थ को अच्छी तरह से समझने पर दूर हो जाते हैं। 'नम' शब्द का अर्थ इस प्रकार है। "नम" शब्द में "न" "म" ऐसे दो पद हैं। इन पदों का यह अर्थ होता है कि "मैं मेरा निर्वाहक नहीं हूँ" अथवा "मुझको स्वतन्त्रता नहीं है"। इस अर्थ का अनुसन्धान करने पर स्वतन्त्रात्मभ्रम नष्ट हो जाता है। क्योंकि श्री भगवान ही सर्वनिर्वाहक एवं परमस्वतन्त्र हैं जीवात्मा उनका परतन्त्र है। "नम" शब्द का दूसरा अर्थ भी होता है वह यह है कि मेरा कुछ भी नहीं है। इससे ममकार नष्ट हो जाता है। सभी पदार्थ श्री भगवान के हैं, श्री भगवान ही सब के स्वामी हैं उन्होंने कर्मफलस्वरूप जीवों को कुछ काल तक के लिये कुछ पदार्थ दे रक्खे हैं जब चाहें तब उठा ले सकते हैं। ऐसी स्थिति में धरोहर के रूप में कुछ काल तक के लिये ईश्वर के द्वारा दिये गये पदार्थों में ममत्व भावना रखना मूर्खता नहीं तो और क्या है। इस प्रकार 'नम' शब्द के अर्थ को बारम्बार मनन करने पर अहंकार और ममकार इत्यादि समस्त अविद्या अर्थात् अज्ञान नष्ट हो जाता है जो संसार का मूल कारण बनकर अनादि काल से अनुवृत्त है जिसका नाश अब तक नहीं हो सका उस महती अविद्यामयी दुःस्थिति को भी हे श्री रंगनाथ भगवन्! मैंने नम शब्दार्थ के अनुसन्धान से नष्ट कर दिया। मैंने श्रीभगवद्दासता को स्वीकार किया तथा अज्ञानान्धकार को नष्ट किया। यह सब कुछ हुआ किंतु एक मनोरथ शेष रह गया है प्रार्थना है उसे भी आप पूर्ण करदें। वह मनोरथ "नारायणाय" इस शब्द के अर्थ का अनुसन्धान करने से उदित हुआ है। वह यह है कि—

हे इन्दिरेश नित्यासख्यविसीमभूम (ति) गुणयोर्युवयोरैकान्तिकात्यन्तिकीं सेवासपदमनायासतो यायाम् हे लक्ष्मीपते । मैं आप दोनो दिव्यदम्पतियो के सन्निधि में सेवा करना चाहता हूँ सेवा ही मेरे लिये संपत्ति है, कैंङ्कर्य ही मेरा साम्राज्य है । मै अपनी सपत्ति को प्राप्त करना चाहता हूँ। आप दोनो के सन्निधि में कैङ्कर्य वडे सौभाग्य से मिलता है आप दोनो मेरे लिये स्वभावत स्वामी हैं, आप दोनो स्वरूप रूप गुण विभूति धाम और लीला की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ हैं आपका स्वरूप नित्य निर्दोष सर्वकल्याणनिधि सकल विलक्षण एव अनन्त ज्ञानानन्दमय है आप का रूप सर्वभूपणभूपित तथा सौन्दर्य सौकुमार्य लावण्य और यौवन इत्यादि गुणो मे अलकृत है, आपके कल्याणगुण नित्य है, अगणित हैं तथा सीमारहित है, आपकी लीलाविभूति यह प्रकृतिमण्डल तथा भोगविभूति परमपद ये दोनो ही नित्य हैं, अगणित पदार्थों से परिपूर्ण हैं, लीलाविभूति नीचे तथा भोगविभूति ऊपर सीमा से रहित है, आपकी लीलायें विचित्र एव अनन्त हैं। ऐसी विशेपताओ से परिपूर्ण आप दोनो के दरवार में कौन कैङ्कर्य करना नहीं चाहेगा ? मै हृदय से सेवा करना चाहता हूँ। वह सेवा भी ऐसी होनी चाहिये ऐकान्तिक एव आत्यन्तिक हो। भाव यह है कि आप दोनो की ही सेवा करनी पडे, दूसरे की सेवा करनी न पडे, सेवा के लिये ही सेवा करना चाहिये, दूसरे किसी फल को प्राप्त करने को इच्छा से सेवा न करना चाहिये। सेवा स्वय फल वन जाना चाहिये। यह सेवा सदा होती रहे कभी उसका विच्छेद न हो। इस प्रकार सर्वदेश सर्वकाल एव सर्वावस्थाओ मे उचित सर्वविध सेवा को स्वय प्रयोजन बुद्धि से करता रहूँ, यह सेवा अनायास प्राप्त हो तदर्थ हे भगवन्, आप कृपा करें। श्रीमदष्टाक्षर महामन्त्र मे चतुर्थ्यन्त नारायण शब्द का अर्थ यही तो है कि मैं नित्य अगणित और सीमारहित गुण और विभूतियो से अलकृत श्रीमन्नारायण भगवान के लिये कैङ्कर्य करता हूँ। चतुर्थ्यन्त नारायण पद के अर्थ को हृदयगम कर मैं कैङ्कर्य करने के लिये मनोरथ कर रहा हूँ विश्वास है कि आप दयानिधि इस मनोरथ को भी पूर्ण कर देंगे ॥३०

(३१)

प्राचार्यात् रङ्गधुर्य द्वयसमधिगमे लब्धसत्ता तदास्ये
विश्लिष्टाश्लिष्टपूर्वोत्तरदुरितभरं यापितारब्धदेहम् ।
नीतं स्वस्कन्धया त्वं निरवधिकदयोद्भूतबोधादिरूपं
त्वद्भोगैकस्वभोगं दयितमनुचरं त्वत्कृते मां कुरुष्व ॥

पूर्व श्लोक मे श्री देशिक स्वामी जी ने श्रीमदष्टाक्षर महामन्त्र के अर्थ के अनुसन्धान से उद्भूत अध्यवसायों को व्यक्त करते हुए श्री रङ्गनाथ भगवान से कैङ्कर्य प्राप्त करने की प्रार्थना की थी। इस श्लोक मे श्री देशिक स्वामी जी श्री भगवान से प्रकारान्तर मे फलप्रार्थना ही करते है।

हे रङ्गधुर्य ! प्राचार्यात् द्वयसमधिगमे लब्धसत्तम् हे श्रीरङ्गनाथ भगवन् ! मै अनादिकाल से वायुवेग में फसे हुए पत्र की तरह कर्म प्रवाह मे फंसकर संसार मे नानाविध यातनाये भोगता रहा। आपने ही अनुकूल समय पाकर अहैतुकी कृपा से मुझको सदाचार्य मे मिलाया। आचार्य सम्बन्ध के बाद मेरे जीवन में भारी परिवर्तन हुआ। आचार्यसदुपदेश पाकर मुझ सुधरे हुए ने उनकी कृपा से उस महामन्त्र द्वयमन्त्र को प्राप्त किया जिसके एकबार उच्चारण से जीव संसारसमुद्र को पार कर जाता है तथा जिसको एकबार श्री भगवान के सन्निधि मे सुनाने पर जीव कृतकृत्य हो जाता है आगे जीव का कुछ कर्तव्य शेष नही रहता। एवंविधमहिमसम्पन्न द्वयमन्त्र को सदाचार्य से प्राप्त कर जब मै ने उनकी प्रेरणा से आपके सन्निधि मे शरणागति की तभी मैं ने सत्ता पायी, तब तक मै असत्कल्प अर्थात् विनष्टप्राय था, श्रीभगवत्प्राप्तिरूप महाफल को प्राप्त करने का सर्वथा अनधिकारी था। द्वयमन्त्र मे शरणागति हो जाने पर मै उत्तम से उत्तम मोक्षपद को प्राप्त करने के लिये सुयोग्य अधिकारी सिद्ध हो गया हूं यह आपकी दया का फल है।

तदास्ये विश्लिष्टाश्लिष्टपूर्वोत्तरदुरितभरम् हे श्री भगवन् ! मैने द्वयमन्त्र का उच्चारण कर आपके सन्निधि मे [illegible]।

तब आपने अत्यन्त प्रसन्न होकर मेरे ऊपर अपार अनुग्रह किया। आपने मेरे कर्मबन्धनों को तोड डाला। मैने अब तक जितने कर्म किये है वे दो प्रकार के है। उनमे कई पुण्य है जिनका फल स्वर्ग इत्यादि लोको मे जाकर भोगना पडेगा। उनने कई पाप है जिनका फल नरक इत्यादि मे भोगना पडेगा। वे पुण्य भी भगवत्प्राप्ति के प्रतिबन्धक होने से एक तरह से पाप ही है। जिस प्रकार सोने की जजीर तथा लोहे की जजीर ये दोनो परस्पर मे अन्तर होने पर भी समान रूप से गति की प्रतिबन्धक होती है, अतएव दोनो तोडने योग्य है उसी प्रकार पुण्य और पाप मे अन्तर होने पर भी दोनो समान रूप से भगवत्प्राप्ति मे बाधक बनते है। पाप नरक आदि के भोग मे फसाकर भगवत्प्राप्ति को रोक देता है, पुण्य स्वर्ग आदि के भोग मे फसाकर भगवत्प्राप्ति को रोक देता है, अतएव ये दोनो नष्ट करने योग्य है। अब तक किये गये मेरे पुण्य पाप दो श्रेणियो मे विभक्त है, उनमे कई प्रारब्ध कहलाते हैं जो इस जन्म मे फल देने लगे हैं। कई सचित कहलाते है जो अब तक फल नही दे पाये है, किन्तु आगे अवश्य फल देगे। उनमें जितने सचित पुण्य पाप है, उन सबको आपने शरणागति सपन्न होते क्षण मे ही नष्टकर दिया, वे मुझको कभी फल नही भुगा सकते। प्रारब्ध कर्मो मे जितने अश को मैने चाहा उतने अश को आपने रहने दिया और शेष सब को नष्ट कर दिया। भाव यह है कि शरणागति सपन्न होते ही आप शरणागत को मोक्षपद मे पहुँचाने के लिये अदम्य त्वरा करने लगते है। शरणागत चाहता है कि जब तक यह शरीर रहे तब तक मै इस लीलाविभूति मे रहकर सिद्धान्त-प्रचार और अर्चावतारसेवा इत्यादि करता रहूँ, तदर्थ कुछ प्रारब्धाश भी बना रहे क्योंकि बिना प्रारब्ध के यह शरीर रह ही नही सकता। शरणागत की इस प्रकार की इच्छा को देखकर आप दयालु उतने ही प्रारब्ध को रहने देते है जितने मे यह शरीर जीवित रह सकता है। अवशिष्ट प्रारब्ध को आप नष्ट कर देते है। इस प्रकार आपने मेरे सपूर्ण सचित और प्रारब्ध शेष को भी उसी

—

समय नष्ट कर दिया जब शरणागति सफल हुई है। आपने पूर्वार्जित पुण्य पापों को नष्ट किया इतनी ही बात नहीं, किंतु आपने आगामी प्रामादिक पापों के विषय में यह व्यवस्था की कि वे भूल से होने वाले प्रामादिक पाप शरणागत को छुएँ नही। जब उनका स्पर्श ही नही होता तब फलभोग कसे हो सकता है। इस प्रकार आपने कई पुण्य पापों को नष्ट कर कइयों के स्पर्श तक को रोक कर मुझ पर महान् उपकार किया। इससे व्यक्त होता है कि शरणागतो मे आपका कितना प्रेम है।

यापितारब्धदेहम् विश्वास है हे श्री भगवन्! आप प्रारब्ध के अनुसार इस शरीर का निर्वाह करायगे। प्रारब्ध के अनुसार मिलने वाले सुख दुःख दोनों मुझे अभीष्ट है उनमे सुखानुभव से इन्द्रियां प्रसन्न होकर आपकी सेवा मे लगेगी दुःखानुभव से खिन्न होता हुआ मन ससार से विरक्त तथा श्री भगवत्प्राप्ति मे उत्कण्ठित होगा। इस प्रकार दोनो मे लाभ ही है। इस प्रकार भोग भोगने के बाद जब यह शरीर छूट जायेगा प्रार्थना है कि तब आप कृपया यह व्यवस्था कर कि—

त्वत्कस्त्वया वा नीतम् जब शरीर त्याग होते ही वाग् इत्यादि दसो इन्द्रियाँ मन मे लीन होती है अनन्तर क्षण मे मन में एक स्मृति होती है उस अन्तिम स्मृति में आप स्वय पधारकर उस स्मृति को अपने विषय मे बनाले। आपके विषय मे अन्तिम स्मृति होने के बाद दश इन्द्रियों से युक्त मन प्राण मे वह प्राण जीव मे वह जीव पञ्चभूतसूक्ष्मो म इन सब से समेत जीव आप अन्तर्यामी मे विश्रान्ति पाने के लिये भीतर मिल जाता है, उस समय आप पूर्ण विश्रान्तिसुख देकर उसे अनुगृहीत कर। इस प्रकार मरने वाले सभी जीवो को आप मे विश्रान्ति लेनी पडती है। यहाँ तक की व्यवस्था सब के लिए एक रूप है। आगे नाडियों के द्वारा निकलने मे अन्तर पडता है। शास्त्र कहता है कि उस समय आप कृपया मुमुक्षु साधकों के लिये सुषुम्ना नाडी के द्वार को प्रकाशित कर सुषुम्ना नाडी से मुमुक्षुओ को ले जाते है। प्रार्थना है कि आप मुझे भी वसे

ही ले जायँ । आप सुषुम्ना नाडी के द्वारा मुमुक्षुओं को सूर्यकिरण पकडा कर आगे अर्चिरादिमार्ग मे "अर्चिस्" "अहम्" "शुक्लपक्ष" "उत्तरायण" "संवत्सर" "वायु" "सूर्य" "चन्द्र" "विद्युत्पुरुष अमानव" और उनके सहायक "वरुण" "इन्द्र" एवं "प्रजापति" ये देवता गौणरूप मे तथा आप प्रधान रूप से उन ७ सीमाओं मे विलक्षण भोग भुगाते हुए मुझे ले जायँ । ब्रह्माण्ड एवं सप्त आवरणों का भेदन कर मुझे विरजा नदी मे नहलाकर आप मेरी वासनाओं को मिटा दें । विरजा नदी के उस पार अमानव के करस्पर्श से मुझे शुद्ध बनाकर राजोपचार के साथ आप मुझे परमपद ले जायँ यह प्रार्थना है ।

निरवधिकदयोद्भूतबोधादिरूपम् हे श्री भगवन् ! प्रार्थना है कि आप परमपद मे अपने दिव्यसन्निधि मे मुझे लेजाकर अपनी अपार कृपा से मेरे उस स्वरूप को विकसित करदें जो संसार मे तिरोहित था जिसका विकास होने पर जीव एक तरह से श्री भगवान का सम बन जाता है । जैसे परमात्मा मे अपहतपाप्मत्व इत्यादि आठ गुण है, वैसे ही जीवात्मा मे भी वे आठ गुण हैं किंतु वे संसार-दशा मे तिरोहित रहते हैं, मोक्ष मे ही आविर्भूत होते हैं । हे श्री भगवन् ! मेरे छिपे हुए रूप को आप विकसित करदें, संसार मे मेरा ज्ञान अत्यन्त संकुचित रहता है, उस ज्ञान को आप ऐसा विकसित करदें कि वह विभु बनकर सर्व पदार्थों का सदा साक्षा-त्कार करता रहे, संसार में कर्मफलस्वरूप ज्ञान कई पदार्थों को प्रतिकूल ग्रहण कर दुःखरूप बन जाता है, आप मोक्षदशा मे कर्म न रहने के कारण मेरे ज्ञान को ऐसा विकसित करदें कि वह सभी पदार्थों को अनुकूल रूप में ग्रहण करता हुआ सदा आनन्द रूप बन जाय । हे श्री भगवन् ! मोक्षदशा मे आप मेरे संकल्प को ऐसा प्रबल बना दें जिससे संकल्प करते ही मनोरथ सिद्ध हो जायँ । इस प्रकार आप मेरे स्वरूप को विकसित कर मुझे सायुज्यपद पर बैठा दें । यह कार्य आपकी अपार दया से ही संपन्न हो सकता है ।

स्वङ्घ्रीयकस्वभोगम् हे श्री भगवन् ! मै यह चाहता हूँ कि मोक्षपद मे पहुँचने पर चेतन होने के कारण मुझे आनन्दानुभव प्राप्त होगा, उसका भान मुझको होता रहेगा वह आनन्द मुझे स्वतन्त्र रूप से न मिले। आपके आनन्द में ही मुझे आनन्द मिल, आपको आनन्दित करते रहने मे ही मुझे आनन्द मिले। आपको आनन्दित करके आपके हर्ष को देखकर हर्षित होना ही मुझे अभीष्ट है। इस प्रकार मै त्वत्सुखसुखी बन जाऊँ अर्थात् आपके सुख मे ही अपना सुख मानने वाला बन जाऊ, स्वार्थ बुद्धि से स्वतन्त्र रूप से कुछ भी सुख मुझे मागना न पड़े। ऐसी आप व्यवस्था करके मेरे स्वरूप की रक्षा करे।

दयितमनुचर त्वत्कृते मां कुरुष्व आप मुझे परम प्रिय सेवक बनाइये आप जहाँ जहाँ जायें जिस जिस लोक मे जाय वहाँ सर्वत्र आपके साथ जाकर मै आपकी सेवा करू, आप आगे आगे चले मै दास पीछे पीछे चलता हुआ सर्वविध सेवा करूँ। प्रार्थना है कि ऐसा आप मुझे अपने लिये बना लीजियेगा। मै आपके लिये ही सब कुछ करना चाहता हूँ अपने लिये कुछ भी नही। मै विशुद्ध परार्थैकस्वरूपनिष्ठ बनना चाहता हूँ स्वार्थकल्पना को फटी नजर से भी देखना नही चाहता। यही मेरी अन्तिम प्रार्थना है। आचार्यसम्बन्ध से लेकर इतना सब कुछ करने वाले आप इस अन्तिम निर्दुष्ट मनोरथ को पूर्ण करगे ऐसा सुदृढ विश्वास है ॥३१॥

(३२)

विधान रङ्गेशादधिगतवतो वेङ्कटकवे
स्फुरद्वर्णं वक्त्रे परिकलयतो न्यासतिलकम्।
इहामुत्राप्येष प्रणतजनचिन्तामणिगिरि
स्वपदे सेवां दिशति फणिपर्यङ्करसिक ॥

इति श्री कवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु न्यासतिलक सम्पूर्णम्।

श्री देशिक स्वामी जी पूर्व श्लोक में फल प्रार्थना का वर्णन कर इस श्लोक मे इस न्यासतिलक ग्रन्थ का अनुसन्धान करने वाले महानुभावो को मिलने वाले महाफल को दृष्टान्तपूर्वक वर्णन करते हुए इस ग्रन्थ का उपसहार करते है।

यहाँ विवक्षित दृष्टान्त यह है कि लोक मे रङ्गमञ्च मे आकर नाटक खेलनेवालो के स्वामी जो सूत्रधार है वे दूसरो को वश मे लाने मे काम आने वाले नानाविध तिलको को बनाने की विधि जानते हैं। किस मूलिका से कौन तिलक बनाये जाते है, उसको बनाने मे कौन कौन द्रव्य किस मात्रा मे लिये जाते है, किस तिलक का धारण करने पर कौन वश होता है, किस तिलक को बनाने की विधि कौन सी है। इत्यादि बातो को वे अच्छी तरह से जानते है। रङ्गमञ्च के सूत्रधार से उस विधि को जानकर यदि वैसा तिलक बनाकर मुख पर धारण करे, अथवा उनसे उस तिलकद्रव्य को लेकर दूसरे कोई अपने ललाट मे धारण करे। उन सब को महाराज तक के महापुरुष वश हो जाते हैं और वे उन सब महाराज इत्यादि महापुरुषो के अन्तरङ्ग सेवक बनकर सुख से जीवन यापन करते है। यह दृष्टान्त इस श्लोक मे अभिप्रेत है।

रङ्गेशाद्विधानमधिगतवतो वेङ्कटकवे. श्री देशिक स्वामी जी कहते है कि मै वेङ्कटनाथ नामक कवि हूँ। जिस प्रकार कोई विद्वान रङ्गमञ्च के स्वामी सूत्रधार से दूसरो के वश मे करने के लिये तिलक बनाने की विधि सीख लेते है, वैसे ही मुझ वेङ्कटनाथ कवि ने भी जगत्सूत्रधार श्री रङ्गनाथ भगवान से इस न्यासतिलक को बनाने की विधि को सीख लिया था। यह ग्रन्थ न्यासतिलक इसलिये कहा जाता है कि यह ग्रन्थ न्यासविद्या अर्थात् शरणागति का प्रतिपादक है, तथा उस तिलक के समान महापुरुष श्री भगवान को भी वश मे लाने वाला है। यह ग्रन्थ शरणागतिप्रतिपादक ग्रन्थो में तिलक के समान है इसलिये न्यासतिलक कहलाता है। अस्तु।

वेङ्कटकवे वक्त्रे स्फुरद्वर्णं न्यासतिलकं वक्त्रे परिकलयताम्

जिस प्रकार तिलक बनाने की विधि को सीख कर विद्वान उस

तिलक को अपने मुख पर अर्थात् ललाट में धारण करते है ललाट मे धारण करने पर उस तिलक का वर्ण अर्थात् रग चमकता रहता है उसी प्रकार मै भी श्रीरङ्गनाथ से इस न्यासतिलक बनाने की विधि को सीखकर उस न्यासतिलक को मुख में धारण करता हूँ अर्थात् इस न्यासतिलक ग्रन्थ को मुख से उच्चारण करता हूँ उस समय इस न्यासतिलक ग्रन्थ का प्रत्येक वर्ण अर्थात् अक्षर प्रस्फुरित होता रहता हैं। भाव यह है कि इस न्यासतिलक ग्रन्थ का निर्माण करने वाल वास्तव मे श्री रगनाथ भगवान् है, उनके सकल्प से ही यह ग्रन्थ मेरे मुख को सुशोभित करता हुआ मेरे मुख से निकल रहा है। जिस प्रकार उस विद्वान से तिलकद्रव्य को लेकर अन्यान्य लोग भी ललाट मे धारण कर सकते है उसी प्रकार जो महानुभाव मुझ से इस न्यासतिलक ग्रन्थ को सीखकर अपने मुख म धारण करते हैं अर्थात् इस न्यासतिलक ग्रन्थ को श्री रगनाथ भगवान के सन्निधि मे सुनाते है उनको जो महाफल मिलता है उसका वर्णन किया जाता है।

प्रणतजनचिन्तामणिगिरि फणिपयङ्करसिक एष इहामुत्रापि स्वपयङ्के सेवां विशति जिस प्रकार उस तिलक को ललाट में धारण करने वालों के राजा महाराज इत्यादि महापुरुष वश हो जाते है तथा उन्हे अन्त पुरपरिजनपद पर रख कर अपनी अन्तरग सेवा करने की आज्ञा देते है वे अन्तरग सेवा कर वैभवसमृद्ध हो जाते है उसी प्रकार इस न्यासतिलक ग्रन्थ को मुख में धारण करने वालों के श्री रगनाथ भगवान वश हो जाते है। श्री रगनाथ भगवान शरणागतों के सर्वविध मनोरथो को पूर्ण करने वाले है। जिस प्रकार चिन्तामणि अपने आश्रितो के मनोरथ को पूर्ण करता है उसी प्रकार शरणागतो के मनोरथों को पूर्ण करने वाले श्री रंगनाथ भगवान चिन्तामणि पर्वत के समान है। श्री रगनाथ को आदिशेष रूपी पयङ्क पर विराजमान रहने मे अपार आनन्द मिलता है। पर्यङ्क विद्या मे यह कहा गया है कि श्री वैकुण्ठनाथ भगवान आदि शेषरूपी पर्यङ्क पर विराजमान रहते है। वे वैकुण्ठनाथ भगवान

हम ही है, इस बात को सब को जताने के लिये श्री रगनाथ भगवान भी आदिशेषरूपी पर्यंङ्क पर विराजमान रहते हैं। श्री भगवान् द्वयमन्त्र के द्वारा शरण मे आनेवालो को श्रीमहालक्ष्मी जी का समर्थन प्राप्त होने के कारण अन्त पुरपरिजन मानते है। इस प्रकार श्री रगनाथ भगवान शरणागतो को अन्त पुरपरिजनपद पर अभि-षिक्त कर भूलोक मे रहते समय उन शरणागतो को श्री रगधाम मे अपने पर्यङ्कसमीप उपस्थित होकर अन्तरग सेवा करने का सौभाग्य प्रदान करते है। शरीर छूटते ही उन शरणागतो को श्री वैकुण्ठधाम में लेजाकर श्री वैकुण्ठनाथ के रूप मे विराजने वाले अपने सन्निधि मे पर्यङ्क के समीप मे आकर सेवा करने का सौभाग्य प्रदान करते है। इस न्यासतिलक ग्रन्थ का अनुसधान करने वालो को यह महाफल प्राप्त होना है।

इस प्रकार फल का वर्णन कर श्री देशिक स्वामी जी इस ग्रन्थ को पूर्ण करते हैं ॥३२॥

इस प्रकार कवितार्किकसिंह सर्वतन्त्रतन्त्रस्वतन्त्र वेंकटनाथ वेदान्ताचार्य के ग्रन्थो मे न्यासतिलक सपूर्ण हुआ।

कवितार्किकसिंहाय कल्याणगुणशालिने।
श्रीमते वेङ्कटेशाय वेदान्तगुरवे नम ॥

श्रीमते निगमान्तमहादेशिकाय नम।

